मनु स्मृति

द्वितीय अध्याय

डा॰ उर्मिला श्रीवास्तव

मनुस्मृति

(द्वितीय अध्याय)

डॉ० उर्मिला श्रीवास्तव

अध्यक्ष संस्कृत विभाग

आर्य कन्या डिग्री कालेज, इलाहाबाद

लोकप्रिय प्रकाशन

इलाहाबाद

प्रकाशक : लोकप्रिय प्रकाशन
१३१, सन्त रविदास मार्ग
पुराना बैरहना, इलाहाबाद

संस्करण : प्रथम, 1996

मूल्य : 40.00 रुपये मात्र

मुद्रक : भार्गव आफसेट

अपनी बात

संस्कृत साहित्य में स्मृति साहित्य अन्यतम है और स्मृति साहित्य में मनुस्मृति सर्वोत्कृष्ट। प्रस्तुत पुस्तक मनुस्मृति से उद्धृत द्वितीय अध्याय की विवेचना मात्र है। ब्रह्मचर्य काल में, ब्रह्मचर्य के नियमों का अध्ययन और ज्ञान भावी जीवन के साफल्य और माङ्गल्य की दृष्टि से आवश्यक है। ब्रह्मचारी के आत्मिक, बौद्धिक तथा सामाजिक विकास के सभी श्रेष्ठ तत्त्व इस अध्याय में समाहित हैं। विद्यार्थी-जीवन की सम्पूर्णता के लिए इस अध्याय के अध्यवसाय पूर्ण अध्ययन की उपादेयता सहज सिद्ध है।

मनुस्मृति का द्वितीय अध्याय देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में समाविष्ट है, विभिन्न विद्वानों की टीकाएँ भी इस अंश पर उपलब्ध हैं तथापि छात्रों की सर्वाङ्गीण आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक सुस्पष्ट, सरल, सटिप्पण व्याख्या की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। मैंने इस कार्य को सम्पन्न करने का सङ्कल्प लिया और यथासाध्य परिश्रम कर कार्य को सम्पूर्ण किया। पुस्तक में मूल भाग की शुद्धि का ध्यान रखते हुए, अन्वय, शब्दों के अर्थ, हिन्दी अनुवाद, संस्कृत व्याख्या आदि प्रस्तुत की गई है। प्राचीन टीकाकारों, स्मृतिकारों तथा धर्मशास्त्रकारों आदि के मन्तव्यों की टिप्पणी के रूप में प्रस्तुति ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है। विदेशी विद्वानों के मतों के यथावश्यक समावेश से ग्रन्थ को अधिक उपादेय बनाने का प्रयास किया गया है। परीक्षोपयोगी यह पुस्तक छात्रों के हितसाधन में सहायक होगी तथा सुधीजनों के ज्ञान की वृद्धि में लाभकारी—ऐसी विश्वासमयी विनत निवेदना के साथ पुस्तक आपको समर्पित है।

—उर्मिला श्रीवास्तव

प्रयाग,

दीपावली, १९९३

प्ररोचना

मानव की समग्र जीवन पद्धति को आत्मसात् कर लेने की क्षमता से समग्र धर्म मनुष्य की एक सार्वभौम अपरिहार्य भावना है। संस्कृत साहित्य में 'धर्म' शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। धर्म व्यक्ति-व्यक्ति के चारित्रिक उत्थान पर बल प्रदान कर, व्यक्ति-व्यक्ति की मनोवृत्तियों का संस्कार परिष्कार करने वाला इन्द्रियागोचर तत्त्व है, जो मानव को हित एवं कल्याण की ओर प्रेरित कर इहलोक और परलोक का मार्ग सुगम करता है। धर्म ही अलौकिक तथा अदृश्य शास्त्र सीमाओं से नियन्त्रित होकर श्रेष्ठ संस्कृति की उत्पत्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। तर्क बुद्धि से परे प्रकृतितः मौन पर आधारित धर्म भावना समरस है, अविरोधी, शाश्वत और सर्वानुगत है। धर्म की इस रूप में कल्पना भारत की ही विशेषता है। युग-युगान्तर से धर्म के प्रत्येक स्रोत को स्वयं में समाहित किये हुए भारत की सदानीरा धर्मगंगा अपनी पावनता एवं महानता से जन-जन को आप्यायित कर रही है।

'धर्म' की व्युत्पत्ति—√धृ धातु से मन् प्रत्यय लगकर निष्पन्न धर्म शब्द 'ध्रियते लोकोऽनेन' अथवा 'धरति लोकम्' (जिस विश्वव्यापी प्रत्यय के द्वारा संसार का सञ्चालन सर्वोत्कृष्ट रूप में व्यवस्थित है) आदि मन्तव्यों का सूचक है। धर्म के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से स्पष्ट है कि धर्म एक धारक तत्त्व है जिस पर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आधृत है, क्योंकि इस संसार में धारण से ही प्राणी का निर्वाह सम्भव है, न केवल प्राणी अपितु जगत् के प्रत्येक चराचर की प्रतिष्ठा धर्म में ही है—

धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजा।
यस्माद् धारणासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

—महाभारत, शान्तिपर्व, १०८.११

जैमिनि के मत में धर्म से अभिप्राय उन क्रियात्मक संस्कारों से है जो आनन्दप्रद, प्रेरक एवं वेदों द्वारा प्रशंसित हैं—**'चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः'** पूर्वमीमांसा सूत्र, १.१.२। इस जीवन का अभ्युदय और भावी जीवन परम्परा में निःश्रेयस् की सिद्धि भारतीय धर्म का लक्ष्य है अर्थात् लौकिक एवं अलौकिक कल्याण के समावेश द्वारा व्यक्ति और समाज के उत्थान का यथार्थ रूप ही धर्म है—**'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस्-सिद्धिः स धर्मः'**—वैशेषिक दर्शन, १.१.२।

पुरुषार्थ चतुष्टय—प्रत्येक मनुष्य की यह आन्तरिक अभिलाषा होती है कि

अनिष्ट का परिहार करते हुए इष्ट का साधन करे। धर्म मार्ग के संयोजन से ही इष्ट साधन सम्भव है। वस्तुतः यह निर्विवाद सत्य है कि जीवन की अभिलाषा अर्थ में, मैत्रीकरण की इच्छा काम में, बुद्धि-ज्ञान-यश की आकांक्षा धर्म में और आत्मिक शान्ति की कठिन कामना मोक्ष में समाहित होती है। चारों पदार्थ परस्पर आधाराधेय भाव से स्थित हो क्रमशः एक दूसरे के सम्पूरक बन जाते हैं। धर्म अर्थाधारित है क्योंकि संसार के समग्र कार्य-कलाप अर्थमूलक हैं। अर्थ एक प्रकार से इच्छा का प्रतिरूप है और इस इच्छा का वर्तमान रहना भी उचित ही है क्योंकि अभाव में, सदाचरण में इच्छापूर्वक प्रवृत्ति असम्भव होगी।

धर्म से उपार्जित, अर्थ से सिद्ध प्रयोजन का नाम काम है। काम मनस्तत्त्व में समाहित महती शक्ति है। काम की महती शक्ति समस्त ज्ञानेन्द्रियों की अपने-अपने विषयों में, अपनी-अपनी प्रकृति के अनुरूप आनन्द की चर्वणा सुखद अनुभूति है। काम, आकार शून्य को आकृति प्रदान कर मोक्ष के मार्ग को पथिक उपलब्ध कराता है। धर्म-अर्थ-काम रूप पुरुषार्थ त्रिवर्ग से पूर्ण परितृप्ति क्रमशः दर्शन-समत्व-श्रद्धा में परिवर्तित होकर सहज रूप में पराकाष्ठा को प्राप्त होती है। यही पराकाष्ठा अन्तिम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष है। सत्य के यथार्थ ज्ञान से साधित यह स्थिति निषेधात्मक न होकर सच्चिदानन्दमयी तथा विशुद्ध चैतन्य स्वरूपा है, जिसका प्रधान स्तम्भ प्रथम पुरुषार्थ धर्म शेष तीनों में अनुस्यूत है। धर्म ही निरंकुश काम को संयमन की रश्मियों से संयमित कर, अर्थ के प्रति अनासक्त भाव का बीजारोपण कर मानव जीवन को अनुभवगम्य आत्मिकसुख अर्थात् मोक्षावस्था में समाहित करता है।

धर्मशास्त्र का स्वरूप और विकास—'वेदो धर्ममूलम्'—गौतमधर्मसूत्र, १.१.२। वेद धर्म के मूल हैं, जो वेदों को जानते हैं। उनका मत ही धर्म प्रमाण है—'धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च'—आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.१.१.२। वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मतुष्टि—ये चार धर्म के साक्षात् उपादान हैं। वेद धर्म सम्बन्धी निबन्ध नहीं हैं, अतः उनमें धर्मविधियों का सञ्चय और उपयोग भी नहीं है किन्तु प्रसंगतः निर्देश अवश्य उपलब्ध है। कालान्तर में धर्मशास्त्र की रचना का अक्षुण्ण सूत्रपात् एक प्रकार से वैदिक साहित्य से ही आरम्भ होता है। ऋग्वेद में शब्द स्पष्ट रूप से धार्मिक क्रिया-कलापों के अर्थ में प्रयुक्त है। अथर्ववेद में पुनरावृत्त इन्हीं मन्त्रों में 'धर्म' तथा 'धर्मन्' दोनों रूप उपलब्ध हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ धार्मिक अनुष्ठान की दृष्टि से संगृहीत ग्रन्थ हैं अतः उनमें धर्म शब्द का बहुल प्रयोग स्वाभाविक है। उपनिषद् आध्यात्मिक दृष्टिकोण से रची गई वे रचनाएं हैं जिनसे धर्म की विभिन्न धाराएं विभिन्न स्रोतों में प्रवाहित हुईं। छान्दोग्य उपनिषद्, २.२३ में धर्म के तीन स्कन्ध माने गये—'त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एवेति द्वितीयः,

ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयः ।' तैत्तिरीय उपनिषद्, १.११ में ब्रह्मचारी को धर्माचरण का उपदेश दिया गया है—'धर्मं चर ।'

स्वर्ण और अलंकार के मध्य जैसे स्वर्णकार की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है, उसी प्रकार धर्मशास्त्र वेद के आदेशों का देशकालानुसारी विनियोग प्रदर्शित कर उसे जन-जन के आचरण योग्य बनाता है। वेद ईश्वरीय वाणी है अतः धर्मशास्त्रीय विधानों की कोश स्मृतियाँ सदा वेद से ही प्रमाण की अपेक्षा रखती हैं। इन स्मृतियों के अन्तर्गत उन साधारण धर्मों का प्रतिपद वर्णन है जिनको जगत् के सभी मनुष्य निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं और जिनका विधिवत् पालन मानव मात्र के उन्नयन में सहायक होता है।

प्रत्येक समाज अपने मूल्यों और धारणाओं को सजीव रखने के लिए उनके प्रति निष्ठा और विश्वास उत्पन्न करता है। इसके लिए सामाजिक प्रेरणा तथा धार्मिक अनुशासन अनिवार्य होता है। क्रिया संस्कारों के माध्यम से धर्मशास्त्र इस प्रकार की प्रेरणा व अनुशासन के सफल माध्यम हैं। विशिष्टता यह है कि इन सभी नियम वाक्यों की रचना सूत्र शैली में की गई है। सूत्र का अर्थ है—संक्षेप, और उद्देश्य है—पारम्परिक ज्ञान के सुरक्षा की दृष्टि से वर्णों का सीमित प्रयोग कर एक विशाल वाक्य को एक लघु वाक्य में प्रस्तुत करना। अतः बहुविस्तृत पारम्परिक प्रथाओं, रीति व्यवस्थाओं, विधि-विधानों तथा धर्म-आज्ञाओं का विवेचन सारगर्भित रूप में इन्हीं धर्मसूत्रों में एकत्र सन्निविष्ट है।

धर्मसूत्रों का अध्ययन सदा से षडंगों में महत्त्वपूर्ण कल्पसूत्रों के अन्तर्गत होता रहा है। प्राचीनकाल में उनका पठन-पाठन चरणों (शाखाओं) में होता था, सम्प्रति अनेक चरणों के धर्मसूत्र उपलब्ध नहीं हैं। सम्भवतः सभी चरणों में धर्मसूत्र रचे भी नहीं गये थे। जैमिनिसूत्र, १.३.११ की व्याख्या में तन्त्रवार्तिक ने एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया है कि सभी आर्यों के लिए सभी धर्मसूत्र तथा गृह्यसूत्र प्रमाण हैं। केवल विधि और संविधान पर अवलम्बित कोई भी व्यवस्था तब तक स्थाई नहीं हो सकती जब तक उसका मूल सुसंस्कृत मन में दूर तक नहीं पहुँचता। अपने प्रतिमानों के प्रति आस्था उत्पन्न करने में धर्मसूत्रों की भूमिका प्रमुख रही है। 'उचित' और 'कर्त्तव्य' की धारणा मनुष्य को पथ से विचलित नहीं होने देती क्योंकि नैतिक मर्यादाएँ उसे पग-पग पर सावधान करती हैं।

वैदिक युग का समग्र ज्ञान मौखिक रूप में कण्ठाग्र था। आश्रमवासी ऋषिगण अपनी शाखा के ज्ञान को परम्परा से उत्तराधिकार रूप में अर्जित कर उच्चारण रूप में ही उसकी सुरक्षा का दायित्व निर्वाह करते थे किन्तु उत्तर वैदिक काल में मौलिक प्रतिभा तथा अध्ययन निष्ठा के अभाव में कण्ठगत ज्ञान विस्मृत हो

रहा था। लेखन कला के अभाव में मेधा सम्पन्न ऋषि की मृत्यु के साथ ही बुद्धिगत ज्ञान तिरोहित हो रहा था। विभिन्न विषयों के अनेक धाराओं में विस्तृत होने से साहित्य का आकार भी विशाल हो रहा था। अतः साहित्य सुरक्षा की दृष्टि से लिपिबद्धता को अनिवार्य मानकर, गागर में सागर भरने के उद्देश्य से सूत्र ग्रन्थों का प्रणयन प्रारम्भ हुआ। धर्मसूत्र भी इसी काल की देन हैं। धर्मसूत्र साहित्य का सीमा विस्तार ६००, ७०० ई० पूर्व से २०० ई० पूर्व तक निर्धारित किया जा सकता है।

श्लोकबद्ध धर्म ग्रन्थों की रचना का सूत्रपात सूत्र ग्रन्थों से भी सुदूर काल में यास्क (७०० ई० पू०) से बहुत पहले प्रारम्भ हो चुका था। प्रमाण रूप में निरुक्त, ३.४.५ को उद्धृत किया जा सकता है जिसमे दाय भाग (उत्तराधिकार) के सम्बन्ध में मनु को प्रमाण माना गया है—

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत ।।

—निरुक्त, ३.४.५

स्मृतियों की संख्या—कालान्तर में धर्मशास्त्र का यही श्लोकबद्ध, क्रमबद्ध तथा व्यवस्थाबद्ध रूप स्मृति ग्रन्थों के नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रारम्भ में स्मृतियों की संख्या सीमित थी। गौतमधर्मसूत्र, ११/१६ में स्मृतिकार के रूप में केवल मनु के नाम का उल्लेख है। वशिष्ठ ने पाँच एवं बौधायन ने सात स्मृतिकारों के नाम प्रस्तुत किये है। मनु ने मनुस्मृति में अपने अतिरिक्त छः अन्य स्मृतिकारों के नाम गिनाये हैं—अत्रि, उतथ्यपुत्र, भृगु, वशिष्ठ, वैखानस और शौनक। कालान्तर में यह संख्या विस्तार पाकर पुराणों की भाँति अष्टादश स्वीकार की गई। याज्ञवल्क्य स्मृति, १.४.५ में परिगणित बीस स्मृतिकारों के नाम इस प्रकार हैं—मनु, विष्णु, यम, आङ्गिरा, वशिष्ठ, दक्ष, संवर्त शातातप, पराशर, आपस्तम्ब उशनः, व्यास, कात्यायन, बृहस्पति, गौतम, शंख, लिखित, हारीत, अत्रि तथा याज्ञवल्क्य। परवर्ती साहित्य में यह गणना अठारह उपस्मृतियों को जोड़कर शत संख्या को प्राप्त हुई है।

स्मृतियों का स्वरूप—स्मरण अर्थ में √स्मृ से क्तिन् प्रत्यय लगकर स्मृति शब्द निष्पन्न होता है। स्मृति शब्द प्राचीन रूप में व्यापक अर्थों का सूचक था जिसके अन्तर्गत वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र आदि विषयों का समावेश था। अवान्तर काल में यह शब्द केवल धर्मशास्त्र के अर्थ में संकुचित हो गया—'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः'—मनुस्मृति, २.१०। श्रुति रूप शाश्वत आधारशिला पर प्रतिष्ठित इन स्मृतियों की रचना का एकमात्र उद्देश्य

या—समाज की सुव्यवस्था के नियामक तत्वों का उपपादन। अतः याज्ञवल्क्य ने इनके वर्ण्य-विषय को समुचित रूप में तीन शीर्षकों में विभक्त किया—(१) आचार, (२) व्यवहार, (३) प्रायश्चित्त। आचार के अन्तर्गत सामान्य, विशेष, नित्य, नैमित्तिक, आपद्धर्म आदि, व्यवहार के अन्तर्गत राजधर्म, प्रशासन, संविधान आदि और प्रायश्चित्त के अन्तर्गत तप, व्रत, दान आदि के माध्यम से विभिन्न पापों से मुक्ति के उपाय वर्णित हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि स्मृति ग्रन्थ एक विवेकशील वेदविद् सभ्य पुरुष के शिष्ट आचरण का लेखा प्रस्तुत करते हैं। हिन्दू जाति की चिरप्राचीन धार्मिक मान्यताओं, सामाजिक विश्वासों, पारम्परिक रीतियों के साथ-साथ राजनीतिक अधिकारों की विवेचक ये रचनाएँ राष्ट्र की अमूल्य एवं अभूतपूर्व ज्ञान-सम्पदा हैं।

मनुस्मृति का महत्त्व—स्मृतिग्रन्थों में सर्वाधिक प्रामाणिक तथा मानव धर्म के अनुरूप मनुस्मृति सर्वथा महत्त्वपूर्ण है। भारतीय समाज में सर्वदा लोकप्रिय यह स्मृतिरत्न व्यापक प्रचार-प्रसार से अपनी उपजीव्यता तथा उपादेयता को द्योतित करता है। ज्ञान गम्भीर महर्षियों के चिरकालिक चिन्तन से, गहनतम विचारों के आलोडन से उद्भूत उस नवनीत के समान है जो वर्ण, स्वाद और उपयोगिता में समता नहीं रखता है। 'सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय' के नियम को सार्थक करने वाले स्मृति ग्रन्थ समाज के लिए नितान्त अनिवार्य तो हैं ही—वर्ण्य-विषय, शैली तथा भाषा प्रत्येक दृष्टि से अन्यतम है। कल्पना कीजिये उस सामाजिक स्थिति की, जो मनुस्मृति के परिपक्व आदेशों से नियन्त्रित नहीं है। क्या वह अव्यवस्थित समाज जिसमें किसी के लिए किसी प्रकार की सीमा रेखा नहीं है, किसी प्रकार की इयत्ता नहीं है, दिशा निर्देश के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति 'स्व' के लिए निहित तत्वों के अर्जन में उन्मत्त है, मनुष्य को निश्चिन्तता दे सकता है, कदापि नहीं। अन्ततः हम मानसिक सुख और शान्ति के लिए समाज की व्यवस्था की स्थापक, दायित्वों की बोधक मनुस्मृति से ही दृष्टि पाते हैं जिसके माध्यम से एक ओर नियामक सिद्धान्त वाक्यों के द्वारा पारस्परिक हस्तक्षेप तथा वैमनस्य की प्रवृत्ति को अवरुद्ध किया गया है तो दूसरी ओर सामान्य परम्पराओं और मान्यताओं के प्रचार-प्रसार से सामूहिक सौहार्द तथा प्रीति की भावना को विस्तृत किया गया है। मनुस्मृति एक प्रकार से संगठन तथा विघटन दोनों घातक प्रवृत्तियों के अति-रञ्जित स्वरूप की समाज के प्रति चेतावनी है। रीतियों की प्राचीनतम शैली, कर्त्तव्यों के प्रेरक विधान, अधिकारों की जागरूक भाषा, आत्मिक शुद्धि के प्रेरक वचन, शारीरिक स्वच्छता के विधायक वाक्य, राजतन्त्र की लोकानुरञ्जक शासन व्यवस्था, प्रजातन्त्र की सर्वजन सुखकारक न्याय व्यवस्था सभी दृश्य मनुस्मृति के

विस्तृत चित्रपट पर एक साथ किन्तु समुचित मात्रा में उभरते हैं। मनुस्मृति की प्रशंसा में शास्त्र के रचयिताओं ने कहा कि मनुस्मृति के प्रतिकूल धर्मादि के आचरण की शिक्षा देने वाली स्मृति (अनुपयोगी होने से) प्रशंसनीय है। वेदार्थ के अनुसार रचित मनुस्मृति की ही प्रमुखता है—

मनुस्मृतिविरुद्धा या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते।
वेदार्थोपनिबद्धत्वात्प्राधान्यं हि मनोः स्मृतेः ॥

—बृहस्पति स्मृति, १३

मनु की वंश परम्परा—उपलब्ध मनुस्मृति के अनुसार मनु की वंश परम्परा ब्रह्मा से प्रारम्भ हुई। ब्रह्मा के पुत्र विराट् हुए। विराट् पुत्र मनु ने राज्य व्यवस्था में विशेषाधिकार प्रदर्शित किया। मनु से दस महर्षियों की उत्पत्ति हुई—मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेतस्, वसिष्ठ, भृगु तथा नारद। इन समस्त पुत्रों में मरीचि सर्वाधिक योग्य राजा हुए। मरीचि के पुत्र स्वायम्भुव मनु राजनीति के प्रकाण्ड आचार्य एवं मानव धर्मशास्त्र के प्रणेता हुए। मनु के शिष्य भृगु ने मनु की उपस्थिति में मनुस्मृति का प्रवचन किया। परवर्ती काल में 'मनु' शब्द विशिष्ट विद्वान् के पर्याय रूप में प्रयुक्त होने लगा—'मनुर्मननात्।'

मनु प्रथम पूर्वज—ऋग्वेद में पुराण-पुरुष मनु को मानव जाति का पिता कहा गया है। वैदिक कवि कामना करता है कि वह मनु निर्दिष्ट मार्ग से भ्रष्ट न हो—'मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नैष्ट परावतः'—ऋग्वेद, ८.३०.३। ब्राह्मण साहित्य में मनु के कथन को अमृत रूप ओषधि माना गया है—'मनुर्वै यत्किंचिदवदत्तद्भेषजमभूतायै'—ताण्ड्य ब्राह्मण, २३.१६.२७। शतपथ ब्राह्मण, १.८.१—सृष्टि के प्रथम पूर्वज मनु की कथा प्रस्तुत करता है। यास्क ने भी मनुष्य को मनु की सन्तति माना है—'मनुष्याः कस्मात्? मनोः अपत्यम्, मनुषो वा।'

—निरुक्त, ३.२.७

महाभारत (शान्तिपर्व) में मनु को स्वायम्भुव एवं प्राचेतस उपाधियों से सम्बोधित किया गया है। मनु शब्द की व्युत्पत्ति है—'मन्यतेऽनेनेति मनुः।' मन् + उ = मनुः। शृस्वृ० इति 'उः'—उणादि कोश, १.११। भविष्य पुराण के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि स्वयंभू मनु रचित शास्त्र के चार संस्करण भृगु, नारद, बृहस्पति तथा अङ्गिरा द्वारा प्रणीत थे—

'भार्गवीय नारदीया च बार्हस्पत्याङ्गिरस्यापि।
स्वायम्भुवस्य शास्त्रस्य चतस्रः संहिता मताः ॥'

—संस्कार मयूख

शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र के भाष्य में मनु के मत की अनेकशः चर्चा की है।

'स्मरन्ति च'—वेदान्तसूत्र, ३.१.१४ की व्याख्या में वे लिखते—'मनुव्यासप्रभृतयः शिष्टाः' अर्थात् मनु व्यास आदि पुरुषों के कथन स्मृति के अन्तर्गत समाहित हैं। आचार्य कौटिल्य भी मानवों के मत का उल्लेख करते हैं। विभिन्न स्मृतिकारों ने मनु का उल्लेख अपने ग्रन्थों में करके उनके सिद्धान्त के प्रति आदर प्रदर्शित किया है। महाकवि कालिदास ने मनु को ओंकार के सदृश श्रेष्ठ आदि शासक कहा है—

'वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ॥'

—रघुवंश, १.११

मानव धर्मशास्त्र और मनुस्मृति—मनु रचित मानव धर्मशास्त्र का संशोधित, सम्पादित तथा पद्यबद्ध प्रथम संस्करण सम्प्रति उपलब्ध मनुस्मृति है। मैक्समूलर[1], ब्यूहलर[2] आदि पाश्चात्य विद्वान् इस विचार के समर्थक हैं। मनुस्मृति के श्लोकों और मानव धर्मशास्त्र के प्राप्तांशों में रत्तीमात्र भी साम्य दृष्टिगत नहीं होता है अर्थात् मनुस्मृति मानव धर्मशास्त्र की प्रामाणिकता को सिद्ध नहीं कर पाती है। तब मानव धर्मशास्त्र नामक किसी प्राचीन ग्रन्थ का अस्तित्व ही विवादास्पद हो जाता है अतः पाश्चात्य विद्वानों द्वारा मनुस्मृति को मानव धर्मशास्त्र का रूपान्तर मानना भी अप्रामाणिक हो जाता है।

मनुस्मृति के रचयिता भृगु—ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का अध्यापन मनु द्वारा होने के कारण ग्रन्थ का मनुस्मृति नाम सर्वथा सार्थक है—'स्वायम्भुवो मनुर्धीमानिदं शास्त्रमकल्पयत्'—मनुस्मृति, १.१०२। क्रमबद्ध संकलन तथा वाचन भृगु द्वारा होने के कारण लेखन का श्रेय उन्हीं को दिया जाता है अर्थात् अपने वर्तमान आकार में यह ग्रन्थ स्पष्ट रूप से महर्षि भृगु की रचना है। कुछ ऋषिगणों ने एकत्र होकर मनु से समग्र वर्णों एवं संकीर्ण जातियों के कर्त्तव्यों को पढ़ाने का आग्रह किया। मनु ने कहा—यह सम्पूर्ण ज्ञान मेरे शिष्य भृगु ने मुझसे अधीन किया है, वही इसका वाचन करेंगे और भृगु ने सविस्तार विवेचना आरम्भ की—

एतद्वोऽयं भृगुः शास्त्रं श्रावयिष्यत्यशेषतः ।
एतद्धि मत्तोऽधिजगे सर्वमेषोऽखिलं मुनिः ॥
ततस्तथा स तेनोक्तो महर्षिर्मनुना भृगुः ।
तानब्रवीदृषीन्सर्वान्प्रीतात्मा श्रूयतामिति ॥

—मनुस्मृति, १.५९-६०

मनुस्मृति की समाप्ति में दिया गया प्रवक्ता का भृगु नाम भी इसे महर्षि की रचना सिद्ध करता है—

इत्येतन्मानवं शास्त्रं भृगुप्रोक्तं पठन्द्विजः ।
भवत्याचारवान्नित्यं यथेष्टां प्राप्नुयाद्गतिम् ।।

—मनुस्मृति, १२.१२६

नारदस्मृति ने मनुस्मृति को भृगुप्रणीत ही माना है। इसी तथ्य की पुष्टि याज्ञवल्क्य स्मृति की श्रेष्ठ टीका मिताक्षरा के टीकाकार विज्ञानेश्वर भिक्षु के निम्न वचन से होती है—'याज्ञवल्क्यशिष्यः कश्चित्प्रश्नोत्तररूपं याज्ञवल्क्यमुनिप्रणीतं धर्मशास्त्रं संक्षिप्य कथयामास, यथा मनुप्रणीतं भृगुः'—याज्ञवल्क्य स्मृति, १.१ पर टीका। याज्ञवल्क्य स्मृति के अन्य टीकाकार अपरार्क ने भृगु के नाम से उद्धृत निम्न श्लोक में मनु नाम की ओर संकेत किया है—

येषु पापेषु दिव्यानि प्रतिशुद्धानि यत्नतः ।
कारयेत् सज्जनैस्तानि नाभिशस्तं त्यजेन् मनुः ।।

—याज्ञवल्क्य स्मृति, २.९६

मनुस्मृति की प्रामाणिकता—ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में भृगु के नाम से कोई संहिता उपलब्ध थी जिसकी मूल प्रति आज अपूर्ण रूप में उपलब्ध है अथवा विनष्ट हो चुकी है। प्रस्तुत संस्करण मूल रूप न होकर सम्भवतः भृगु द्वारा सम्पादित प्रति है। यह नितान्त स्वाभाविक है कि कवि की मेधा ने सम्पादन करते समय देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार विभिन्न मत-मतान्तरों का समावेश आवश्यक मानकर किया हो तथा कुछ वैचारिक सिद्धान्तों को अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया हो। यही कारण है कि मनुस्मृति के श्लोक अन्य टीका ग्रन्थों में मिलनेवाले उद्धरणों से रंचमात्र भी समानता नहीं रखते हैं। इस बात की भी पर्याप्त सम्भावनाएँ हैं कि मनुस्मृति के प्रणेता ने ग्रन्थ को प्राचीन सिद्ध करने के लिए स्वनाम के स्थान पर मनु का नाम उद्धृत कर दिया है।

मनुस्मृति का रचनाकाल—मनुस्मृति के काल निर्धारण में अन्तः एवं बहिः साक्ष्य की विवेचना नितान्त आवश्यक है। बाह्य साक्ष्यों की प्रस्तुति में सर्वप्रथम मनुस्मृति की सर्व प्राचीन टीका मेधातिथि (९०० ई०) रचित है। याज्ञवल्क्य स्मृति (४०० ई०) के प्राचीनतम टीकाकार विश्व रूप (६५० ई०) ने मनुस्मृति से लगभग दो सौ उद्धरण लिये हैं। शंकराचार्य (८०० ई०) ने वेदान्तसूत्र में मनु के सिद्धान्तों की उद्भावना की है। कुमारिल भट्ट (६०० ई०) ने तन्त्रवार्तिक में मनुस्मृति को (धर्मसूत्रों में प्राचीनतम) गौतम धर्मसूत्र (५०० ई०) से भी प्राचीन कहा है। शबरस्वामी (४५० ई०) के जैमिनिसूत्र के भाष्य में मनुस्मृति के श्लोकांश पठित हैं। अश्वघोष (१०० ई० पू०) रचित वज्रसूचिकोपनिषद् एवं मनुस्मृति के कुछ अंशों में पर्याप्त समानता है। महाभारत (५०० ई० पू०) मनुस्मृति, ३.५४ से पूर्णतः परिचित

है। रामायण (७०० ई० पू०) और मनुस्मृति के सिद्धान्तों में वैचारिक एकता उपलब्ध होती है।

अतः साक्ष्यों के अन्तर्गत मनुस्मृति द्रविड़, कम्बोज, यवन, चीन, म्लेच्छ आदि उक्त विदेशी जातियों से परिचित है, आर्यावर्त में जितना अस्तित्व २०० ई० पू० में प्रमाणित होता है—

पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥

—मनुस्मृति, १०.४४

विद्वानों की मान्यता है कि मनुस्मृति में शेष तीनों वर्णों पर ब्राह्मण जाति का वर्चस्व स्थापित किया गया है अतः मनुस्मृति की रचना उस काल में हुई जब भारतवर्ष पर ब्राह्मणों का आधिपत्य था। शुंग राजाओं (२०० ई० पू०) के पतन के पश्चात् कण्व राजाओं ने (१०० ई०) में लगभग आधी शती तक राज्य किया था, सम्भवतः मनुस्मृति उसी काल की रचना है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मनुस्मृति की वर्तमान स्वरूप में रचना २०० ई० पू०—२०० ई० के मध्य काल में किसी समय हुई होगी।

मनुस्मृति का वर्ण्य विषय—मनुस्मृति में १२ अध्यायों तथा २६९४ श्लोक हैं। इस रूप में यह पुस्तक व्यापक वर्ण्य-विषय को प्रस्तुत कर जीवन के बहुपक्षीय वृत्त को समेट लेती है। सामान्य सांसारिकता के मध्य जीवन यापन करते हुए सदाचार के माध्यम से मानव को ब्रह्मत्व पद का अधिकारी बना देने का श्रेय मनुस्मृति को ही है। आत्मज्ञान का इच्छुक साधक धर्म-अर्थ-काम के सेवन द्वारा अधर्म की निवृत्ति करता हुआ परम पुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। भारत में आदिकाल से धर्म-अर्थ-काम को पृथक् कर देखने की जो परम्परा चली आ रही थी, मनुस्मृति ने उन तीनों को एक परिधि में समाविष्ट कर समाज को आचरण की एक नई दिशा दी। अपनी विस्तृत सामग्री के संकलित कोश से मनुस्मृति (वेदों के समान) आदेश नहीं उपदेश के माध्यम से मानवीय आचरण के धार्मिक, राजसिक एवं सामाजिक तीनों पक्षों के शाश्वत विधि-विधानों को उद्भूत करती है। धर्मशास्त्र के अन्तर्गत सृष्टि की रूपरेखा, धर्म की परिभाषा, धर्म के उपादान, वेद, स्मृति, साधु पुरुषों को आचार, आत्मतुष्टि, संस्कार, वर्णों के अधिकार एवं कर्तव्य, पञ्चमहायज्ञ, प्रणव, व्याहृति, गायत्री, सन्ध्या, सत्, रज, तम गुणों का स्वरूप, दानस्तुति, प्रायश्चित विधि, भक्ष्याभक्ष्य नियम, कर्मों का स्वरूप, जीव, पञ्चमहाभूत, तपस्या व विद्या का महत्व, धर्मज्ञ के लक्षण, आत्मज्ञान, निष्काम कर्म मोक्ष इत्यादि विषय विवेचित हैं। राज्य में शान्ति की स्थापना के लिए प्रजावत्सल

राजा की आन्तरिक व्यवस्था सुचारु रखने का प्रयास करना चाहिए। इसके साथ ही बाह्य शत्रुओं से भी पूर्ण सावधान रह कर राज्य की रक्षा करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है। इस आधार पर राजशास्त्र को दो भागों में बाँटा जा सकता है—प्रथम के अन्तर्गत—राज्य को परिभाषा तथा उत्पत्ति, राजा का परिचय, गुण—अवगुण, शासन विधि, मन्त्रि परिषद्, राज्य सभा की योग्यता, संगठन एवं कार्य प्रणाली, दूत की पात्रता, दुर्ग, राजधानी, दण्डविधान, न्याय व्यवस्था, कर ग्रहण, कोश, ज्ञात एवं अज्ञात चोर, बन्दीगृह इत्यादि विषय विशद वर्णित हैं। द्वितीय भाग के अन्तर्गत—राजनीति का सामान्य लक्षण, शत्रु तथा मित्र से सजगता, सन्धि एवं विग्रह, सेना, सैन्य सञ्चालन, आक्रमण, युद्ध नियम, साम, दान, दण्ड, भेद आदि कूटनीतियाँ समाविष्ट हैं। समाजशास्त्र के अन्तर्गत—विवाह, गृहस्थ जीवन, पति-पत्नी के कर्त्तव्य, सम्बन्ध विच्छेद, सन्तान के प्रति अधिकार, ज्येष्ठ पुत्र, दत्तक पुत्र, पुत्री, उत्तराधिकार, स्त्रीधन, सम्पत्ति विभाजन, वसीयत, द्यूतकर्म का निषेध आदि विषयों की व्याख्या है।

मनुस्मृति की शैली और भाषा—वेद के गहनतम विषयों की दुरूहता समाप्त करने की इच्छा से ब्रह्मा ने अपने मानस पुत्र मनु को धर्मतत्त्व का उपदेश सरल, सुबोध शैली में किया था। उसी परम्परा का निर्वाह करते हुए मनुस्मृति में ऋषि द्वारा साक्षात् अनुभूति विषय सरल सहज शैली में वर्णित है। सुदीर्घ काल के मन्थन से निःसृत विचार सिद्धान्त रूप में छोटे-छोटे वाक्यों में प्रस्तुत हैं। पद्य की पंक्तियों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का प्रतिपादन कठिन शब्दों में न हो कर नितान्त बोधगम्य एवं लोक प्रचलित शब्दों में उपन्यस्त है, अतः भाषा दुर्गम शब्दों से बोझिल न होकर स्वाभाविक प्रवाह से ओत-प्रोत है। संरचना में पाणिनि सम्मत व्याकरण के नियमों का पूर्णतः पालन होने से भाषा सम्बन्धी त्रुटियों का नितान्त अभाव है। विधि-निषेधों की प्रामाणिकता में प्राचीनतम साहित्य—वेद, वेदाङ्ग, उपनिषद्, पुराण, भूगोल, इतिहास, कथा, आख्यायिका आदि का उपयोग प्रचुर मात्रा में है। पूर्ववर्ती तथा समकालिक विद्वानों के मतों का भी यथावश्यक संग्रह सर्वथा उचित है।

अनेक स्थलों पर परस्पर विरुद्ध कथनों की जटिलता प्रक्षिप्त अंश के समावेश का सन्देह उत्पन्न करती है।

मनुस्मृति और विश्व—सार्वभौम सिद्धान्त देश-काल की सीमा में संकुचित नहीं रहते, वे सकल विश्व के चराचर को बाह्य तथा आन्तरिक रूप में प्रभावित करते हैं। मनुस्मृति प्रतिपादित शाश्वत नियम भी आर्यावर्त की भौगोलिक परिधि में ही सीमित रह गए हों, ऐसा नहीं है। विश्व के अनेक देशों में इनको व्यापक स्वीकृति प्राप्त हुई तथा अनेकों देशों की सभ्यता इनसे प्रभावित हुई। चम्पा में प्राप्त

एक अभिलेख के अनेक श्लोकों में से एक श्लोक मनुस्मृति, २.१३६ से शब्दशः समानता रखता है तथा अन्य मनु रचित श्लोकों ३.७७-८० के संक्षिप्त रूपान्तर हैं। बर्मा का धम्म थट् (प्रचलित कानून) मनुस्मृति के नियमों द्वारा ही नियन्त्रित है। भारतीय कानून व्यवस्था तथा बालि कानून व्यवस्था के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारत तथा बालि द्वीप दोनों के संविधान का समान स्रोताधार मनुस्मृति ही है।

मनुस्मृति और पाश्चात्य विद्वान्—भारतीय प्राच्यविद्या के पाश्चात्य पाठकों तथा विदेशी प्रशंसकों ने मनु एवं मनुस्मृति के समाज पर महत्तम प्रभाव से आकृष्ट होकर इस दिशा में विशेष गवेषणाएँ कीं। सर्वप्रथम 'ब्यूहलर' ने अपने ग्रन्थ 'द लॉज ऑफ मनु' में विद्वतापूर्ण भूमिका एवं पाद-टिप्पणी सहित मनुस्मृति के श्लोकों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। 'सर विलियम जोन्स' ने अपने अंग्रेजी अनुवाद में मनुस्मृति को १२५० ई० पू० की रचना माना और 'यूनानी भाषा के माइनोस' म्न्यूस आदि शब्दों को संस्कृत शब्द 'मनु' का विकृत रूप माना है। 'जी० सी० हॉगटन' ने मनुस्मृति के मूल भाग व अंग्रेजी अनुवाद को यथावश्यक पाद टिप्पणियों सहित तीन खण्डों में प्रकाशित किया। 'हॉपकिन्स' ने अपनी सम्पादित पुस्तक 'द ऑडिनेन्स ऑफ मनु' (ए० सी० बर्नल का अंग्रेजी अनुवाद) में महाभारत, शान्तिपर्व में उपलब्ध मनु एवं मनुस्मृति के उल्लेख को प्रमाण मानकर मनुस्मृति को महाभारत से प्राचीन माना है। आंग्ल भाषा के अतिरिक्त 'लॉसलूयर' का फ्रेंच भाषा में 'लॉएस डे मनु' नामक ग्रन्थ तथा 'डंकन एम० डेरट' का जर्मन भाषा में भारुचि की टीका सहित अनुवाद मुद्रित हुआ। जर्मन भाषा में ही 'जे जॉली' द्वारा सम्पादित एवं अनूदित पाठ्य भाग का प्रकाशन भी महत्त्वपूर्ण था। मोनियर विलियम्स ने मनुस्मृति का रचनाकाल ५०० ई० पू० निर्धारित किया है। इसी शृंखला में मैक्समूलर, मैक्डानल, श्लेगल, एल्फिस्टन, गोरिशियो, मैडम ब्लेवैत्स्की, एनी बेसेण्ट आदि विद्वानों ने मानवीय मूल्यों के स्थापक ग्रन्थ मनुस्मृति को अपनी शोधों में सम्मानपूर्ण स्थान दिया। संस्कृत एवं संस्कृति प्रेमी 'दाराशिकोह' ने फारसी भाषा में रचित अपने ग्रन्थ 'मज्म उल बहरैन' (दो सागरों का सम्मिलन) में आदि पुरुष मनु को आदम के समकक्ष माना है। महान् दार्शनिक 'नीत्शे' ने श्रेष्ठ गुणों के प्रतिनिधिभूत ग्रन्थ मनुस्मृति को बाइबिल की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट मानकर कहा था—'Close the Bible and open the code of Manu'.

मनुस्मृति के टीकाकार—यह निर्विवाद सत्य है कि मनुस्मृति का विधान प्रत्येक वाद से ऊपर उठकर सुखद तथा शान्तिपर्व वैयक्तिता का पक्षपातरहित पोषक है। साम्राज्यवाद की त्रुटिपूर्ण पद्धतियों का निवारण कर प्रत्येक के लिए समान और

सबके लिए सन्तोषप्रद व्यवस्था का उत्तरदायी है। जीवन निर्वाह के सन्तुलित उपायों के प्रतिपादक ग्रन्थ मनुस्मृति से स्फूर्ति लेकर भारतीय साहित्यिक चेतना ने इस दिशा में विशेष कार्य किये, फलतः शताब्दियों, पूर्व से ही इस पर संस्कृत भाषा. में वैदुष्यपूर्ण टीकाएं व व्याख्याएं लिखी गईं। स्मृति विशेषज्ञ इन विद्वानों की नामावली उनके भाष्य ग्रन्थों एवं अनुमानित समय के साथ (कालक्रमानुसार) निम्न प्रस्तुत है—

१. असहाय	७५० ई०	टीका अनुपलब्ध
२. भर्तृयज्ञ	८०० ई०	टीका अनुपलब्ध
३. मेधातिथि	८२० ई०	मनुभाष्यभासिका
४. गोविन्दराज	१०५० ई०	मन्वाशयनसारिणी
५. कुल्लूक भट्ट	११५० ई०	मन्वर्थमुक्तावली
६. राघवानन्द	१३५० ई०	मन्वर्थचन्द्रिका
७. सर्वज्ञनारायण	१४०० ई०	मन्वर्थविवृत्ति
८. मणिराम	१६३० ई०	मन्वर्थबोधिनी
९. रामचन्द्र	काल अज्ञात	चन्द्रिका
१०. नन्दन	काल अज्ञात	नन्दिनी
११. भारुचि	८०० ई०	मनुशास्त्रविवरण

१. मैक्समूलर, हिस्ट्री ऑफ एन्शिएण्ट संस्कृत लिटरेचर।

२. ब्यूहलर, लॉज ऑफ मनु, इण्ट्रोडक्शन।

द्वितीयोऽध्यायः

धर्म सामान्य का लक्षण—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत ॥१॥

अन्वय—अद्वेषरागिभिः सद्भिः विद्वद्भिः नित्यं सेवितः, हृदयेन अभ्यनुज्ञातः (च) यः धर्मः तं निबोधत ।

शब्दार्थ—अद्वेषरागिभिः—राग और द्वेष से रहित मनुष्यों के द्वारा, अभ्यनुज्ञातः—निर्धारित किया गया, निबोधत—अच्छी प्रकार समझिये ।

हिन्दी अर्थ—राग-द्वेष विहीन एवं धर्मात्मा विद्वान् पुरुषों के द्वारा सर्वदा सेवित तथा अन्तःकरण से भली-भांति निश्चित किया गया जो धर्म है, उसे आप लोग पूर्ण रूप से जानिये ।

संस्कृत व्याख्या—अद्वेषरागिभिः—द्वेषश्च रागश्च इति द्वेषरागौ, न विद्येते द्वेषरागौ येषु ते अद्वेषरागिणः, तैः रागद्वेषशून्यैः; सद्भिः—साधुपुरुषैः, विद्वद्भिः—वेदविद्भिः, नित्यं—निरन्तरं, सेवितः—अनुष्ठितः, हृदयेन—चित्तेन, अभ्यनुज्ञातः—निश्चितः यः धर्मः—वेदविहितानुष्ठानं, तं—धर्मं, निबोधत—अवगच्छत ।

विशेष—अद्वेषरागिभिः—बाह्य धर्म (वेद द्वारा असम्मत धर्म) के अनुष्ठान में व्यामोह को प्रथम कारण तथा राग-द्वेष को द्वितीय कारण माना गया है । ये दोनों तत्त्व ज्ञान में बाधक होते हैं । प्रतिषेध की क्रिया द्वेष है व लोभ राग का मूल है, अचेतन पदार्थ में लिप्सा लोभ है ।

सद्भिः—साधु वह है जिसकी राग-द्वेष से अधर्म में प्रवृत्ति नहीं होती । जिसे विषयों का सम्यक् ज्ञान हो ।

विद्वद्भिः—वेद की विषयवस्तु का यथार्थ स्वरूप जानने वाला पुरुष ।

हृदयेन अभ्यनुज्ञातः—हृदय—चित्त, अनुज्ञान—हृदय की प्रसन्नता । चित्त अथवा अन्तःकरण स्वाभाविक रूप से जिस कार्य में प्रवृत्त हो वह उचित होता है, वही धर्म है । हृदय शब्द का एक अर्थ 'वेद' भी है । वैदिक अनुष्ठान से हृदय प्रसन्न होता है, इसलिये हृदय को वेद कहा जाता है । अथवा वेद का अध्ययन करने पर वह भावना रूप से हृदय में ही रहता है, इसलिये भी हृदय को वेद कहा गया है । इस प्रकार हृदय (वेद) द्वारा अनुमोदित तथा धर्म हुआ ।

धर्मः—द्वितीय अध्याय में धर्म का उपदेश है । मेधातिथि के अनुसार धर्म

शब्द का प्रयोग 'अष्टका' आदि के अनुष्ठान अर्थ में हुआ है। ये अष्टका आदि धर्म नित्य धर्म हैं। प्रत्येक पूर्णिमा के पश्चात् की अष्टमी अष्टका कहलाती है। इस प्रकार एक वर्ष में बारह अष्टकायें हुईं। यह सात पाकयज्ञों में से एक है—औपासन, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका श्राद्ध, मासि श्राद्ध, श्रवणाकर्म तथा शुलगव। अदृष्टार्थ कर्तव्य—गोविन्दराज। संस्कार आदि—कुल्लूक भट्ट। 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' अर्थात् प्रेरणादायी विधिवाक्य द्वारा जो प्रतिपादित होता है वह धर्म है। 'यजेत स्वर्गकामः' (जो पुरुष स्वर्ग फल की इच्छा करता है, वह याग करे)—यह वैदिक वाक्य है। ऐसे वाक्य विधि वाक्य कहलाते हैं। यह विधि याग के अनुष्ठान के लिये प्रेरित कर रही है—चोदना। स्वर्ग केवल सुख का संवाहक होने के कारण अर्थरूप है, अनर्थ नहीं। इस प्रकार याग धर्म हुआ। शास्त्र के विषय में संशय की स्थिति में साधु पुरुषों के मन में विद्यमान अति अभीष्ट विषय ही धर्म है—राघवानन्द। धर्म वह है जिसका नित्य निष्काम आचरण किया जाय, शोक अथवा मोह के कारण नहीं—नन्दन। धर्म वह है जो श्रुतियों से प्रमाणित हो—'श्रुतिप्रमाणको धर्मः'—हारीत स्मृति। मानव जीवन की अनर्थ से रक्षा कर, अभ्युदय और कल्याण की ओर प्रेरित करने वाला तत्त्व धर्म है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः'—वैशेषिक दर्शन।

कर्म की काम्यता—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः ॥२॥

अन्वय—इह कामात्मता न प्रशस्ता, अकामता च एव न अस्ति, हि वेदाधिगमः वैदिकः कर्मयोगः च काम्यः।

शब्दार्थ—इह—इस लोक में, कामात्मता—फल की इच्छा से कर्म में प्रवृत्ति, अकामता—निष्काम भावना, वेदाधिगमः—वेद का अध्ययन, काम्य—फल प्राप्ति की आकांक्षा से प्रवृत्ति के योग्य।

हिन्दी अर्थ—इस लोक में फल की कामना से किसी कार्य में प्रवृत्ति प्रशंसित नहीं है किन्तु निष्काम भाव से व्यक्ति की कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्ति भी नहीं हो पाती है क्योंकि वेद ज्ञान तथा वेद विहित कर्म-सम्पादन में फलेच्छा से प्रवृत्ति होती है।

संस्कृत व्याख्या—इह—अस्मिन् जगति, कामात्मता—कामात्मनो भावः, फलाभिलाषशीलत्वं; न प्रशस्ता—निन्दिता, बन्धनकारणात्; अकामता—फलाभिलाषाभावः, न अस्ति—न वर्तते, प्रवृत्तेरभावात्; हि—यतः, वेदाधिगमः—वेदस्य

अधिगमः वेदार्थाध्ययनं; वैदिकः—वेदादिष्टः, कर्मयोगः—कर्मणः योगः, कर्मानुष्ठानं; च काम्यः—कर्मफलाकांक्षप्रवृत्तियोग्यः ।

विशेष—कामात्मता—जिस पुरुष की मात्र फल की अभिलाषा से कर्म में प्रवृत्ति होती है उसे कामात्मा कहते हैं । भाव वाचक प्रत्यय (तल्) लगाकर कामात्मता शब्द निष्पन्न होता है । यही कामात्मता निन्दित है । यह निन्दा यहाँ प्रतिषेध अर्थ में है । यहाँ एक शङ्का उपस्थित होती है कि सम्पूर्ण क्रियानुष्ठान फल की सिद्धि के लिये होता है, न कि मात्र स्वरूप की निष्पत्ति के लिये । वस्तुतः कोई भी क्रिया फल रहित नही होती । फल के प्रयोजन के बिना लोक में प्रवृत्ति भी नहीं देखी जाती । तब क्या इसका यह अर्थ हुआ कि कोई भी व्यक्ति कुछ न करे, निष्क्रिय होकर बैठा रहे । प्रस्तुत शङ्का का समाधान यह है कि निषेध का यह प्रसंग काम्य कर्मों में उठाया गया है । यह निषेध नित्य कर्मों में प्रसक्त नहीं होता क्योंकि नित्य कर्मों में फल नहीं सुना जाता, अतः वहाँ फल की उद्देश्यता भी सार्थक नहीं होती । यहाँ काम शब्द इच्छा अथवा अभिलाषा का द्योतक है । लोक में मनुष्य की कर्म करने की प्रवृत्ति फलोन्मुखी ही होती है । दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों के अनुष्ठान में जिस कर्मकाण्ड का वेदों में विधान किया गया है, वह भी फलेच्छा को ध्यान में रखकर किया गया है । इच्छा न होने पर व्यक्ति देवता के लिये भी अपने द्रव्य का त्याग नहीं करता है । ऐसी स्थिति मे कामात्मता के निषेध से सभी श्रुति-स्मृति विहित कर्म निषिद्ध हो जाते हैं । निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कामात्मता अर्थात् रागपरता अभ्युदय (पुरुषार्थ) में बाधक है । रामचन्द्र ने श्लोक के पूर्वार्ध का सन्धि विग्रह 'च एव ईहा अस्ति अकामता' किया है ।

काम्य कर्म—'फलोद्देशेन विधीयमानानि कर्माणि काम्यानि' । काम्य कर्म फल प्राप्ति की कामना पूर्ति का साधन होने से बन्धन के हेतु होते हैं, स्वर्गादि की प्राप्ति इन कर्मों का फल है—'स्वर्गकामो यजेत' ।

सङ्कल्प की अनिवार्यता—

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे सङ्कल्पजाः स्मृताः ॥३॥

अन्वय—कामः सङ्कल्पमूलः वै, यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः, व्रतानि सर्वे यमधर्माश्च सङ्कल्पजाः स्मृताः ।

शब्दार्थ—कामः—फल प्राप्ति की इच्छा, सङ्कल्प—आजीवन निभायी जाने वाली मानसिक प्रतिज्ञा, यज्ञ—अग्नि में मन्त्रपूर्वक आहुति अर्पण, व्रत—नियम अथवा चान्द्रायण आदि व्रत ।

हिन्दी अर्थ—इष्ट फल विषयक इच्छा सङ्कल्प से उत्पन्न होती है, यज्ञ

सङ्कल्पजन्य होते हैं, व्रतों और समस्त यम धर्मों में प्रवृत्ति का मुख्य कारण सङ्कल्प अर्थात् मानसिक इच्छा ही स्मरण किया गया है अर्थात् स्मृति ग्रन्थों में कहा गया है।

संस्कृत व्याख्या—कामः—फलाभिलाषः, सङ्कल्पमूलः—सङ्कल्पः मूलं यस्य सः, वैचारिकनिर्णयेनोत्पन्नः, वै—प्रसिद्ध्यर्थे, यज्ञाः—अग्निष्टोमादियागाः, सङ्कल्पसम्भवाः—सङ्कल्पेनैव सम्भवाः भवन्ति, व्रतानि—चान्द्रायणादि व्रतानि, सर्वे—सकलाः, यमधर्माश्च—यमाश्च धर्माश्च ब्रह्मचर्याहिंसादयः, सङ्कल्पजाः—सङ्कल्पोद्भवाः, स्मृताः—कथिताः।

विशेष—यम—महर्षि पतञ्जलि के अनुसार 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः' अर्थात् यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह (संग्रह न करने की प्रवृत्ति)।

सङ्कल्पः—यागादि की कामना होने पर सङ्कल्प अवश्य किया जाता है। संकल्प रूप यह मानस व्यापार सभी क्रियाओं का आरम्भक है। पदार्थ के स्वरूप का निरूपण करके इस पदार्थ से यह क्रिया सिद्ध होगी—यह ज्ञान संकल्प है। संकल्प से ही इच्छा अथवा प्रार्थना उदित होती है—यह इच्छा काम है।

यज्ञ—यहाँ दो अर्थों में प्रयुक्त है—(१) गृहस्थ धर्म। (२) पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, सोमयज्ञ, जपयज्ञ।

काम की चेष्टाशीलता—

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥४॥

अन्वय—इह अकामस्य काचित् क्रिया कर्हिचित् न दृश्यते, हि यत् यत् किञ्चित् कुरुते तत् तत् कामस्य चेष्टितम्।

शब्दार्थ—कर्हिचित्—कभी भी, अकामस्य—इच्छाविहीन का, चेष्टितम्—प्रयास है।

हिन्दी अर्थ—इस संसार में इच्छाशून्य मनुष्य का कोई कार्य कभी भी नहीं देखा जाता है, अतः वह जो कुछ करता है, इच्छा से प्रेरित होकर ही करता है।

संस्कृत व्याख्या—इह—अस्मिन् संसारे, अकामस्य—फलाभिलाषरहितस्य काचित् क्रिया—भोजनगमनशयनादिप्रवृत्तिरूपव्यापारः, कर्हिचित्—कदाचित्, न दृश्यते—उपलभ्यते, हि—अतः, यत् यत् किञ्चित्—अधिकं अल्पं वा, कुरुते—क्रियते, तत् तत्—तत्सर्वं कर्म, कामस्य—इच्छायाः, चेष्टितम्—प्रयसितम्।

विशेष—अकामस्य—समग्र लौकिक कर्म संकल्प के अधीन हैं। संसार में जाग्रदवस्था में सम्पादित कोई भी क्रिया ऐसी नहीं जो इच्छा के बिना सम्भव हो। लौकिक तथा वैदिक कर्म शास्त्रविहित हों अथवा प्रतिषिद्ध, अभिलाषा से ही चेष्टित होते हैं। सभी चेष्टाओं का मूल इच्छा होने से सभी कर्म काम से चेष्टित हैं। इस प्रकार स्थिति अधिक विषम हो जाती है क्योंकि 'कामात्मता न प्रशस्ता'—मनुस्मृति, २.२। यह कहा जा सकता है कि काम का मर्यादित रूप ही उचित है।

काम का उपभोग—

तेषु सम्यग्वर्तमानो गच्छत्यमरलोकताम्।
यथा सङ्कल्पितांश्चेह सर्वान्कामान्समश्नुते ॥५॥

अन्वय—तेषु सम्यग् वर्तमानः अमरलोकतां गच्छति, इह च यथासंकल्पितान् सर्वान् कामान् समश्नुते।

शब्दार्थ—सम्यग् वर्तमानः—वेद विहित विधि से करता हुआ, अमरलोकतां—स्वर्गीय पद को, यथासंकल्पितान्—इच्छानुसार, समश्नुते—प्राप्त करता है।

हिन्दी अर्थ—उन (यज्ञ, व्रत और यमधर्मों) में भली भाँति लगा हुआ व्यक्ति देवलोक को प्राप्त करता है और यहाँ भी इच्छित समग्र विषयों का यथेष्ट भोग करता है।

संस्कृत व्याख्या—तेषु—शुभकृत्येषु, सम्यक्—समुचितरूपेण, वर्तमानः—प्रवृत्तः, अमरलोकतां—अमरस्य देवस्य लोकः, तस्य भावः, तां स्वर्गलोकत्वं, मुक्तिं वा, गच्छति—भजति, इह—अस्मिन् भौतिकसंसारे, च, यथासंकल्पितान्—इच्छानुसारान्, सर्वान्—सकलान्, कामान्—विषयभोगान्, समश्नुते—अधिगच्छति।

विशेष—सम्यक् वर्तमानः—शास्त्रों में जैसा प्रतिपादित है वैसा अनुष्ठान करने वाला अथवा वह अनुष्ठाता जो अर्थ एवं काम के विषय में विचार किए बिना कर्म में प्रवृत्त होता है। सम्यग् वर्तमान पुरुष ब्रह्मत्व अर्थात् मोक्षरूप परम पद का अधिकारी होता है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। अमरलोकता—कर्म में अण् प्रत्यय, पुनः भाव प्रत्यय लग कर अर्थ हुआ—अमरों को देखने वाला अर्थात् स्वर्ग उपलब्ध कर लेने वाला अथवा लोक में देवतावत् पूजित।

[असद्वृत्तस्तु कामेषु कामोपहतचेतनः।
नरकं समवाप्नोति तत्फलं न समश्नुते ॥१॥
तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रोक्तं यथाविध्युपपादितम्।
काम्यं कर्मेह भवति श्रेयसे न विपर्ययः ॥२॥]

हिन्दी अर्थ—तृष्णा से नष्ट बुद्धिवाला अभीष्ट कामनाओं के लिए यथेच्छ अर्थात् स्वतन्त्र आचरण करता है, तो वह नरकगामी होता है और उसे इच्छित फल भी नहीं मिलता है।

अत: श्रुति एवं स्मृति प्रतिपादित सकाम कर्म भी कल्याण का कारण बनता है, अन्यथा नहीं।

धर्म के मूल तत्त्व—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥६॥

अन्वय—अखिल : वेद : तद्विदां स्मृतिशीले च साधूनाम् आचार:, एव च, आत्मन: तुष्टि : एव च धर्ममूलम्।

शब्दार्थ—तद्विदां—वेदवेत्ता पुरुषों की, स्मृतिशीले—स्मृतियाँ और शालीन स्वभाव।

हिन्दी अर्थ—समस्त वेद, वेदवेत्ताओं की स्मृतियाँ एवं उनका शिष्ट स्वभाव, सज्जनों का आचरण और अपनी अन्तरात्मा की सन्तुष्टि—ये सब धर्म के मूल तत्त्व हैं।

संस्कृत व्याख्या—अखिल:—सम्पूर्ण:, वेद:—ऋग्यजु:सामाथर्वण:, तद्विदां—तान् विदन्तीति तद्विद:, तेषां वेदज्ञानां, स्मृतिशीले—स्मृतिश्च शीलञ्च ते, च, साधूनां—ईर्ष्याद्वेषविहीनानां सत्पुरुषाणां, आचार:—आचरणं एव च, आत्मन:—स्वकीयस्य, तुष्टि:—परितोष:, एव—अवधारणार्थक:, धर्ममूलं—धर्मस्य मूलं, धर्मप्रामाण्यम्।

विशेष—वेद—'विद्यते ज्ञायते लभ्यते वा एभिर्धर्मादिपुरुषार्थ इति वेदा:' (ऋक् प्रातिशाख्य) अर्थात् जिसके द्वारा धर्मादि चारों पुरुषार्थ प्राप्त किये जाते हैं वह वेद है। 'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद:' (ऋग्भाष्यभूमिका) अर्थात् जो ग्रन्थ अभीष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के लिये अलौकिक उपाय को बताता है, वह वेद है। 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'—प्राचीन काल में वेद शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के अर्थ में होता था जिसके अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् सम्मिलित थे। आगे चल कर वेद चार संहिताओं के अर्थ में सीमित हो गया—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

अखिल:—वेद का वेदत्व अर्थात् धर्ममूलता प्रत्येक पद, वर्ण अथवा मात्रा में समाविष्ट है। इसीलिये शूद्र के लिये एक भी वेदवाक्य का उच्चारण निषिद्ध है।

धर्ममूलम्—वेद की धर्ममूलता मनु आदि के उपदेश की अपेक्षा नहीं रखती,

वेद तो स्वतः प्रमाण है। 'सम्पूर्ण वेद क्यों और कैसे धर्म का मूल अथवा प्रतिष्ठा हुआ' मनु ने इसका उल्लेख नहीं किया। वस्तुतः क्यों और कैसे की जिज्ञासा मीमांसा ग्रन्थ शान्त करता है। मनुस्मृति तो आगम ग्रन्थ है, आगम ग्रन्थ सिद्ध अर्थ को द्योतित करता है।

तद्विदाम्—तद् पद वेद का बोधक है। वेदार्थ के जानने वालों को यह करना चाहिये, यह नहीं करना चाहिये, इस प्रकार का जो स्मरण है, वह भी धर्म में प्रमाण है—'वेदार्थविदाम् इदं कर्त्तव्यम् इदन्न कर्त्तव्यम् इति यत् स्मरणं तदपि प्रमाणम्'।

स्मृति—मनु आदि ऋषियों का अनुभव-संस्कार जन्य ज्ञान अर्थात् अनुभूत विषय का विशिष्ट ज्ञान स्मृति है। बुद्धि का प्रथम चरण अनुभूति तथा द्वितीय चरण स्मृति है। हम जैसे साधारण मनुष्यों के लिये तो मनु आदि प्रणीत स्मृति ही प्रमाण है किन्तु स्मृति के रचनाकारों के लिये वेद प्रथम प्रमाण हैं।

शील—समाधि अर्थात् मन का सम्यक् सन्तुलन। मन को अन्य विषयों से हटाकर शास्त्र के अर्थों में समाक्षिप्त करना। कुछ लोग रागद्वेष विहीन प्रशंसनीय आचरण को शील मानते हैं। हारीत स्मृति में शील तेरह प्रकार का बताया गया है—ब्राह्मणसदृश आचरण, देव तथा पितरों के प्रति भक्ति, दूसरों को कष्ट न देना, कोमलता, ईर्ष्याभाव का अभाव, अकठोरता, मैत्री भाव, प्रियभाषण कृतज्ञता, शरणदेना, करुणा सम्पन्नता एवं प्रशान्त स्वभाव।

आचार—व्यवहार, उचित का अनुष्ठान अथवा कम्बल, वल्कल आदि आचरण।

आत्मनः तुष्टिः—वैकल्पिक पदार्थ विषयों में अपने मन का सन्तोष धर्म में प्रमाण है—'वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम्'— व्यास गर्ग। आत्मतुष्टि का आधार है अन्तःकरण और मापदण्ड है अन्तश्चेतना—'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः-करणप्रवृत्तयः'—अभिज्ञानशाकुन्तल १.२०।

मनुस्मृति वेदमूलक—

य: कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥७॥

अन्वय—मनुना कस्यचित् यः कश्चित् धर्मः परिकीर्तितः सः सर्वः वेदे अभिहितः, हि सः सर्वज्ञानमयः।

शब्दार्थ—परिकीर्तितः—वर्णन किया है, अभिहितः—कहा गया है, सर्वज्ञानमयः—चारों वेदों के अर्थों के ज्ञाता अथवा समग्र ज्ञानों के आरम्भकर्ता रूप।

हिन्दी अर्थ—भगवान् मनु ने (अपने स्मृति ग्रन्थ में) जिसके जिस धर्म का

उपदेश किया है वह सब वेद प्रतिपादित ही है क्योंकि वेद सभी प्रकार के अदृष्ट विषयक ज्ञान का भण्डार हैं अथवा वे मनु सभी वेदों के अर्थों से भली-भाँति परिचित थे।

संस्कृत व्याख्या—मनुना—मनुर्नामकेन ऋषिणा स्मृतिकारेण वा, कस्यचित्—ब्रह्मचार्यादिः, यः काश्चित्, धर्मः—यज्ञदानादिः, परिकीर्तितः—वर्णितः, सः सर्वः—मनूपदिष्ट धर्मः, वेदे—मन्त्रसंहितायां, अभिहितः—प्रतिपादितः, हि—यतः, सः—मनुः, सर्वज्ञानमयः—सर्वाधिक प्रबुद्धः आसीत्।

विशेष—मनु—मानव जाति के प्रथम पुरुष के रूप में मान्य मनु वैदिक साहित्य में अनेकशः उल्लिखित हैं। धर्म के प्रकृत रूप के ज्ञाता और उपदेष्टा के लिए प्रयुक्त मनु शब्द सम्भवतः उपाधि था। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इसी ओर संकेत करता है—'मनुर्मननात्'—यास्क। राघवभट्ट ने एक पंक्ति उद्धृत की है तदनुसार मनु आदि धर्मशास्त्र के रचयिता हैं—कर्तारो धर्मशास्त्राणां मनुर्विष्णुर्यमोऽङ्गिराः—याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.4—5।

कर्त्तव्य निर्धारण—

सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा।
श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान्स्वधर्मे निविशेत वै ॥८॥

अन्वय—विद्वान् इदं सर्वं तु ज्ञानचक्षुषा निखिलं समवेक्ष्य श्रुतिप्रामाण्यतः स्वधर्मे निविशेत वै।

शब्दार्थ—ज्ञानचक्षुषा—ज्ञानपूरित दृष्टि से, समवेक्ष्य—भली भाँति अवगत कर, श्रुतिप्रामाण्यतः—वेदों के प्रमाणानुरूप, निविशेत—प्रवृत्त रहे।

हिन्दी अर्थ—विद्वान् पुरुष इन सभी (मनु उपदिष्ट धर्म) को ज्ञान परिपूर्ण दृष्टि से भली भाँति देख कर वेदों के प्रमाणानुसार अपने कर्त्तव्य धर्म को निश्चित कर अनुष्ठान में प्रवृत्त हो।

संस्कृत व्याख्या—विद्वान्—विवेकवान् पुरुषः, इदं सर्वं—मनूक्तं ज्ञानं, तु, ज्ञानचक्षुषा—ज्ञानमेव चक्षुः तेन, निखिलं—समग्रं, समवेक्ष्य—सम्यक् दृष्ट्वा, पर्यालोच्य इत्यर्थः, श्रुतिप्रामाण्यतः—श्रुतीनां प्रामाण्यं श्रुतिप्रामाण्यं, तस्मात् वेदसिद्धत्वात्, स्वधर्मे—निजवर्णाश्रमाद्यनुकूले, निविशेत—प्रवृत्तो भवेत्, वै।

विशेष—ज्ञानचक्षुषा—नित्य अथवा अनित्य, प्रत्यक्षगोचर अथवा प्रत्यक्ष-अगोचर—सब कुछ जो जानने योग्य है उसे तर्क, व्याकरण, निरुक्त, मीमांसा आदि के माध्यम से श्रवण तथा चिन्तन रूप में अभ्यास करना चक्षु है। जैसे नेत्र से रूप का ज्ञान होता है, वैसे ही शास्त्र से धर्म का ज्ञान होता है। इदं—श्रुत्यादिप्रमाण-

जातम् अर्थात् श्रुति आदि प्रमाण समूह। श्रुति शब्द उपलक्षण से स्मृति का भी ग्राहक है।

निखिलम्—'समवेक्ष्य' क्रियापद का विशेषण। विद्वान् शास्त्रों में समाहित ज्ञान का अन्धानुकरण न करके, वेदाङ्ग—मीमांसा इत्यादि का आश्रय लेकर, नीर-क्षीर विवेकी बुद्धि से पर्यालोचना के पश्चात् धर्म को स्वीकार करे।

आचरणीय धर्म—

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन्हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥ ९॥

अन्वय—हि मानवः श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मम् अनुतिष्ठन् इह कीर्तिम् अवाप्नोति, प्रेत्य च अनुत्तमं सुखं (अवाप्नोति)।

शब्दार्थ—अनुतिष्ठन्—अनुष्ठान करता हुआ, प्रेत्य—मृत्यु के पश्चात्, अनुत्तमं—सर्वोत्कृष्ट।

हिन्दी अर्थ—वेदों और स्मृतियों में वर्णित धर्म का आचरण करता हुआ मानव इस संसार में यश प्राप्त करता है और मृत्यु के पश्चात् (धर्मानुष्ठानजन्य कर्मादि के) सर्वश्रेष्ठ सुख का उपभोग करता है।

संस्कृत व्याख्या—हि—यतः, मानवः—मनोः अपत्यं पुमान्, मनुजः, श्रुतिस्मृत्युदितं—श्रुतिश्च स्मृतिश्च श्रुतिस्मृती, ताभ्याम् उदितं, वेदपुराणोपनिषत्सु उपदिष्टं, धर्मं—कर्त्तव्यं, अनुतिष्ठन्—पालयन्, इह—भौतिकसंसारे, कीर्तिं—ख्यातिं, प्रेत्य—परलोके, च, अनुत्तमं—सर्वोत्कृष्टं स्वर्गापवर्गादिसुखं, अवाप्नोति—अनुभवति।

विशेष—अनुत्तमम्—दृष्ट फल के इच्छुक नास्तिक एवं अदृष्ट फल के इच्छुक आस्तिक, दोनों प्रकार के व्यक्तियों की इसमें प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः इसे अनुत्तम कहा गया है। यह श्लोक मोह अर्थात् अज्ञान से आवृत नास्तिक बुद्धि वाले व्यक्ति को वेद में प्रेरित करता है। सत्यधर्म के पालन से, आदर्शों के अनुष्ठान से व्यक्ति आकल्पान्त स्थायी यश का भागी होता है, प्रसिद्ध है—'कीर्तिर्यस्य स जीवति'। मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग अथवा मोक्ष रूप परम पद पर प्रतिष्ठित होता है। पुरुषसूक्त इस विषय में प्रमाण है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

—ऋग्वेद, १०-९०-१६

श्रुतिस्मृति स्वरूपनिर्धारण—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥१०॥

अन्वय—श्रुतिः तु वेदः विज्ञेयः, स्मृतिः तु धर्मशास्त्रं वै, ते सर्वार्थेषु अमीमांस्ये, हि धर्मः ताभ्यां निर्वभौ।

शब्दार्थ—वेदः—मन्त्रब्राह्मणात्मक साहित्य, धर्मशास्त्र—आचारसंहिता, अमीमांस्ये—अतार्किक बुद्धि से विचारणीय।

हिन्दी अर्थ—ईश्वरीय वाणी सुने जाने से श्रुतियाँ ही वेद हैं, आचार संहिता की निर्धारक होने से स्मृतियाँ ही धर्मशास्त्र हैं। सभी प्रयोजनों में प्रतिकूल तर्कों से उनका खण्डन नहीं करना चाहिए क्योंकि धर्म श्रुति और स्मृति प्रसूत ही है।

संस्कृत व्याख्या—श्रुतिः—श्रूयते इति श्रुतिः गुरुपाठात् श्रूयत एव परं न केनापि क्रियत इति, तु, वेदः—मन्त्रब्राह्मणात्मकं साहित्यं, विज्ञेयः—ज्ञातव्यः स्मृतिः—स्मरणात् स्मृतिः, मनुयाज्ञवल्क्यादिग्रन्थाः, तु, धर्मशास्त्रं वै—धर्मशास्त्रेति नाम्ना प्रसिद्धा एव, ते श्रुतिस्मृती उभे साहित्ये, सर्वार्थेषु—सकलप्रयोजनेषु, अमीमांस्ये—प्रतिकूलतर्कवचनैर्न विचारणीये, हि धर्मः, ताभ्यां—श्रुतिस्मृतिभ्यां, निर्बभौ—प्रादुर्भूतः।

विशेष—श्रुति-स्मृति—प्रत्यक्ष श्रवण किये गये शब्द वेद हैं और कर्त्तव्यता का ज्ञान कराने वाले वाक्य स्मृति हैं। दोनों धर्मशास्त्र हैं—ऐसा लक्षण करने पर स्मृति का लक्षण वेद में प्रसक्त होता है। अतः अन्तर प्रस्तुत किया गया—जहाँ धर्मानुशासन सुना जाता है वह वेद और जहाँ स्मरण किया जाता है, वह स्मृति है। श्रुति पद के साथ ग्रहण करने के कारण स्मृति को वेद के समकक्ष स्वीकार किया जाता है। श्रुति और स्मृति दोनों के समाचार (सम्यक् आचरण) से दोनों ही अमीमांस्य हैं। 'मीमांस्ये' पाठ भेद से यह विचार भी दिया जाता है कि धर्म के अति सूक्ष्म होने से बिचार आवश्यक है क्योंकि 'यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः'। यथा—'अथातो धर्मजिज्ञासा'—धर्म सम्बन्धी बिषय का ज्ञान न होने से श्रुति आदि की छः प्रमाणों द्वारा विवेचना आवश्यक है। स्मृतिग्रन्थ मानव के व्यावहारिक पक्ष को धर्म की सीमाओं में प्रतिबद्ध कर लौकिक और पारलौकिक अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

'स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकाशिताः'॥

—भर्तृहरि

वेदनिन्दक नास्तिक—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥११॥

अन्वय—यः द्विजः हेतुशास्त्राश्रयाद् ते मूले अवमन्येत। सः वेदनिन्दकः नास्तिकः, साधुभिः बहिष्कार्यः।

शब्दार्थ—हेतुशास्त्राश्रयात्—तर्कशास्त्र का आधार लेकर, अवमन्येत—तिरस्कार करे, नास्तिकः—श्रद्धाविश्वास विहीन।

हिन्दी अर्थ—जो ब्राह्मण तर्कशास्त्र का आश्रय लेकर उन श्रुति और स्मृति रूप धर्म के हेतुओं की अवमानना करे, नास्तिक एवं वेदनिन्दक वह सज्जनों द्वारा बहिष्कार के योग्य है।

संस्कृत व्याख्या—यः—कश्चित्, द्विजः—द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायते इति, ब्राह्मणः; हेतुशास्त्राश्रयात्—हेतोः शास्त्रं, तस्य आश्रयः, तस्मात् तर्कवचनात्; ते मूले—श्रुतिस्मृतिरूपमूलाधारे, अवमन्येत—आदरं न कुर्यात्, सः—विप्रः, वेदनिन्दकः—वेदस्य निन्दां करोतीति, वेदे श्रद्धाविहीनः इत्यर्थः; नास्तिकः—नास्ति श्रद्धा यस्मिन् सः, धर्मविश्वासरहितः; साधुभिः—शिष्टैः पुरुषैः, बहिष्कार्यः—न व्यवहरणीयः।

विशेष—हेतुशास्त्र—श्रुतिविरोधी तर्कशास्त्र जिनमें ईश्वर की सत्ता मान्य नहीं है, केवल कर्म की प्रधानता है, यथा—जैन, बौद्ध, चार्वाक दर्शन।

वेदनिन्दकः—वेद तथा स्मृति ग्रन्थ समान विषय के प्रतिपादक होने से समरूप हैं अतः एक के नामोल्लेख से दूसरे का भी ग्रहण हो जाता है। वेद की निन्दा की तीन कोटियाँ हैं—

(१) बौद्ध, जैन, चार्वाक आदि दर्शनों के तर्कों के आधार पर वेद को अप्रमाण मानना, याज्ञवल्क्य के अनुसार यह ब्राह्मण वध के सदृश घोरतम पातक है।

(२) तर्क एवं विवादप्रियता के कारण श्रुति-आदिष्ट कर्मों की अवहेलना करना, यह कर्म मदिरापान के सदृश घोर पातक है।

(३) वेद प्रवर्तित धर्म में समुचित आस्था का अभाव। यह अल्प पातक है। कतिपय विद्वान् 'वेदनिन्दकः' में वेद शब्द का अर्थ वेद ही लेते हैं, स्मृति नहीं। उनके अनुसार वेदनिन्दक की भाँति स्मृतिनिन्दक बहिष्कार्य नहीं है। इस आपत्ति के समाधान में कहा गया है कि वेद पद केवल वेद अर्थ में संकुचित नहीं है, उसमें स्मृति, सदाचार व आत्मतुष्टि भी समाविष्ट हैं।

बहिष्कार्यः—बहिष्कार किस रूप में हो, मनु ने इसका स्पष्ट निर्देश नहीं किया है। सम्भवतः उनका अभिप्राय है, विद्वान् पुरुषों द्वारा सम्पादित क्रियाओं, यथा—यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, अतिथि-सत्कार आदि में वेदनिन्दक को सम्मिलत नहीं करना चाहिये।

धर्म चतुः स्वरूपात्मक—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥१२॥

अन्वय—वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य आत्मनः प्रियं च एतत् चतुर्विधं धर्मस्य साक्षात् लक्षणं प्राहुः ।

शब्दार्थ—सदाचार—शालीन व्यवहार, स्वस्य आत्मनः प्रियं च—अपनी आत्मा का प्रिय ।

हिन्दी अर्थ—वेद, स्मृति, श्रेष्ठ आचरण तथा अपने मन का सन्तोष—ये चार धर्म के साक्षात् लक्षण कहे गये हैं ।

संस्कृत व्याख्या—वेदः—ऋगादि समाम्नायः, स्मृतिः—मन्वादिप्रणीतग्रन्थः, सदाचारः—शिष्टाचारः, स्वस्य—पादपूर्त्यर्थं, आत्मनः—निजस्य, प्रियं—हर्षप्रदं, च एतत्, चतुर्विधं—चतुष्प्रकारकं, धर्मस्य—वेदादिष्टानुष्ठानस्य, साक्षात्—प्रत्यक्षं, लक्षणं—चिह्नविशेषं, प्राहुः—विद्वज्जनाः स्वीकुर्वन्ति ।

विशेष—'वेदो धर्ममूलम्'—गौतमधर्मसूत्र, १.१.२, वेद धर्म के प्राणतत्त्व हैं । धर्म का प्रतिपादन करती हैं वेदमूलक स्मृतियाँ, स्मृतियाँ सम्प्रेषक हैं सदाचार की । सदाचार के मार्ग में वर्तमान बाधायें समाप्त होती हैं देशकाल के परिप्रेक्ष्य में लिये गये आत्मिक निर्णय से ।

श्रुति का परम प्रामाण्य—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ।।१३।।

अन्वय—अर्थकामेषु असक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते । धर्मं जिज्ञासमानानां श्रुतिः परमं प्रमाणम् ।

शब्दार्थ—अर्थकामेषु—अर्थ और कामरूप पुरुषार्थ में, असक्तानां—उदासीन पुरुषों का, जिज्ञासमानानां—जानने की इच्छा रखने वाले ।

हिन्दी अर्थ—अर्थ और काम में आसक्ति न रखने वाले पुरुषों के लिये धर्मज्ञान का (यह स्मृति रूप) विधान किया जा रहा है, धर्म की जिज्ञासा रखने वालों के लिये वेद ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है ।

संस्कृत व्याख्या—अर्थकामेषु—अर्थश्च कामश्चेति अर्थकामाः तेषु, असक्तानां—न सक्तिः येषां तेषां, निर्लिप्तानां; धर्मज्ञानं—धर्मस्य विवेचनं, विधीयते—विधानं क्रियते, धर्मं, जिज्ञासमानानां—ज्ञातुम् इच्छन्ति इति जिज्ञासमानाः, तेषां, ज्ञानेच्छुकानां; श्रुतिः—वेदः, परमं—सर्वोत्कृष्टं, प्रमाणम् ।

विशेष—अर्थकामेषु—गो, भूमि, सुवर्ण, धन आदि के अर्जन एवं रक्षण में, कृषि, वाणिज्य आदि व्यापार में व्यस्तता अर्थासक्ति है । स्त्रीसम्भोग व उसके सहायक गीत, वाद्य, नृत्य आदि का उपभोग कामासक्ति है । अर्थ तथा काम में आसक्त पुरुष को धर्मज्ञान न होने के दो कारण हैं—

(१) धर्म के परम प्रमाण श्रुति का अवबोधन अत्यन्त कठिन है।

(२) निरुक्त, व्याकरण, तर्क, मीमांसा इत्यादि के ज्ञान के अभाव में वेद के दुरूह अर्थ को ग्रहण कर पाना असम्भव है। प्रसिद्ध हैं—जो व्यक्ति धन को सर्प, मिष्ठान्न को विष एवं स्त्री को राक्षसी मानकर भयभीत रहता है वही विद्या ग्रहण कर सकता है—

'योऽहेरिव धनाद् भीतो मिष्ठान्नाच्च विषादिव।
राक्षसीभ्यः इव स्त्रीभ्यः स विद्यामधिगच्छति' ॥

अन्य विद्वानों के अनुसार अर्थकाम का तात्पर्य है, दृष्टफल की इच्छा। दृष्टफल में आसक्त पुरुषों के लिये ज्ञान का नहीं, अनुष्ठान का विधान है। धर्म अनुष्ठान काल में अध्ययन की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होता है। यद्यपि धर्म के अनुष्ठान से दृष्ट प्रयोजन की सिद्धि होती है तथापि मात्र उसी को दृष्टिगत करके धर्म में प्रवृत्ति अनुचित है। कहा गया है—दृष्ट फल की कामना से अनुष्ठेय कर्म अदृष्ट फल की प्राप्ति नहीं कराता है—'दृष्टफलकामार्थानां नादृष्टं भवति'। प्रतिषिद्ध कर्म के सेवन से अदृष्ट हानि तो होती ही है, अधर्म भी होता है।

परमं प्रमाणम्—श्रुति स्वतः प्रामाण्य और स्मृति परतः प्रामाण्य है। श्रुति और स्मृति में विरोध दृष्टिगत होने पर श्रुति वाक्य आदरणीय है—

श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत् सता ॥

—ऋषि जाबाल

श्रुतिद्वय विरोध में अविरोध—

श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
उभावपि हि तौ धर्मौ सम्यगुक्तौ मनीषिभिः ॥१४॥

अन्वय—यत्र तु श्रुतिद्वैधं स्यात् तत्र उभौ धर्मौ स्मृतौ। मनीषिभिः तौ उभौ अपि धर्मौ सम्यक् उक्तौ।

शब्दार्थ—श्रुतिद्वैधं—श्रुति के दो वचनों में परस्पर विरोध, मनीषिभिः—मनीषी जनों के द्वारा।

हिन्दी अर्थ—जहाँ पर वेद वाक्यों में परस्पर विरोध दृष्टिगत हो, वहाँ दोनों ही धर्मों को प्रमाण मानना चाहिये क्योंकि मनु आदि महर्षियों ने उन दोनों ही परस्पर विरुद्ध वचनों को सम्यक् ज्ञान स्वीकार किया है।

संस्कृत व्याख्या—यत्र—यस्मिन् प्रसङ्गे, श्रुतिद्वैधं—श्रुतेः द्वैधं, श्रुतिवचनेषु विरुद्धत्वं, स्यात्—भवेत्, तत्र—तस्मिन् स्थले, उभौ धर्मौ—द्वे वचने, स्मृतौ—

वर्णितौ, मनीषिभिः—मन्वादिभिः, तौ, उभौ अपि धर्मौ—द्वे एव कथने, सम्यक्—समीचीनं, उक्तौ—अभिहितौ ।

विशेष—श्रुतिद्वैधम्—श्रुति के कथनों में परस्पर विरुद्ध भाव, यथा—एक श्रुति के अनुसार जो धर्म है, अन्य श्रुति के अनुसार उसे ही अधर्म कहा गया हो। ऐसी स्थिति में दोनों धर्म विकल्प से अनुष्ठेय होते हैं। एक शंका स्वाभाविक है कि क्या दो श्रुति वाक्यों का समुच्चय (सहसम्पन्नता) सम्भव है। विकल्प ग्रहण करने पर तो एक काल में एक ही धर्म का अनुष्ठान हो सकता है। समाधान है, वे कर्म साथ भी सम्पन्न हो सकते हैं, एक दूसरे के अनन्तर भी। पुनः शंका उपस्थित होती है कि अग्निहोत्र रूप एक कर्म के लिये तीन कालों का विधान है, तब एक के प्रयोग में तीन काल एक साथ ग्रहण करना सम्भव नहीं एवं काल के अनुरोध से विधीयमान कर्म की तीन बार आवृत्ति भी अनुचित है। नियम भी है—गौण के अनुरोध पर प्रधान की आवृत्ति अनुचित है। अतः निर्देश है—तुल्यबल की स्थिति में व्यक्ति अनुष्ठान के लिये स्वतन्त्र है—तुल्यबलविरोधे विकल्पः—गौतम धर्मसूत्र, १.४।

निर्णय रूप उद्धरण—

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा।
सर्वथा वर्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥१५॥

अन्वय—उदिते अनुदिते च एव समयाध्युषिते तथा, इति इयं वैदिकी श्रुतिः यज्ञे सर्वथा वर्तते।

शब्दार्थ—उदिते—प्रातःकाल में, अनुदिते—उदय से पूर्व काल में, समयाध्युषिते—मध्याह्न काल में।

हिन्दी अर्थ—सूर्योदय काल में, सूर्योदय से पूर्व काल में और मध्याह्न काल में अग्निहोत्र करना चाहिये। ये तीनों वैदिक श्रुतियाँ हैं अतः यज्ञ सम्पादन में सर्वथा मान्यता प्राप्त हैं।

संस्कृत व्याख्या—उदिते—सूर्योदिते जुहुयात्, अनुदिते—सूर्योदयात् प्राक् जुहुयात्, समयाध्युषिते—मध्याह्ने जुहुयात्, तथा, इति इयं वैदिकी श्रुतिः—परस्पर-विरुद्धाऽपि वेदादेशः (अतः) यज्ञे—यागानुष्ठाने, सर्वथा—सर्वदा, वर्तते—व्यवह्रियते।

विशेष—उदिते—सूर्य के उदय का काल जब सूर्य की किरण रेखा मात्र से झलकती है सम्पूर्ण रूप से नहीं।

अनुदिते—उदय से पूर्व का काल जब अरुण किरणों की लालिमा चतुर्दिक् बिखरी होती है तथा आकाश विस्तार में अल्प तारे दिखते हैं।

समवयाऽभ्युषिते—समया पद समीप का वाचक है और अभ्युषित पद समीपी सन्ध्या काल का बोधक। अर्थ हुआ—रात्रि के बीत जाने पर सूर्य एवं नक्षत्रों से रहित उषस् काल—'अभ्युषितं रात्रेर्विवासकालः'।

यज्ञे—यज् धातु से निष्पन्न यज्ञ शब्द इष्ट देव को लक्ष्य करके अग्नि को समर्पित की गई सामग्री का सूचक है अर्थात् देवता को उद्देश्य कर अपने द्रव्य का 'इदं न मम' की भावना पूर्वक त्याग। समर्पण की भावना देवपूजा, संगतिकरण और दान में समाविष्ट होती है—जो ज्येष्ठ हैं वे देव समान हैं उनकी पूजा यज्ञ है। समवयस्कों के साथ सामाजिक विकास हेतु मैत्री आवश्यक है, यही संगतिकरण यज्ञ है। अपनी अपेक्षा अल्पायु को स्नेहपूर्वक कुछ देना दान रूप यज्ञ है। व्यवहार की यह विधा संसार के प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक गुण और प्रत्येक शक्ति में अन्वित होती है। अतः कहा गया—'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'—शतपथ ब्राह्मण, १.७.४५।

[श्रुतिं पश्यन्ति मुनयः स्मरन्ति तु यथास्मृति।
तस्मात्प्रमाणं मुनयः प्रमाणं प्रथितं भुवि ॥३॥
धर्मव्यतिक्रमो दृष्टः श्रेष्ठानां साहसं तथा।
तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जाना: सीदन्त्यपरधर्मजाः ॥४॥]

मुनिजन समस्त श्रुतियों का साक्षात्कार कर अपनी स्मृति के अनुसार उनका स्मरण कर लेते हैं अतः सभी लोगों की अपेक्षा मुनिजन प्रमाण हैं और उन्हीं के प्रमाण पृथिवी में विख्यात हैं।

सूर्योदय के पूर्व या पश्चात् हवन किया जाए इत्यादि धर्मों में व्यतिक्रम देखा गया है। इसे भलीभांति समझ कर तदनुसार आचरण करने से कल्याण होता है, द्विविधा में पड़ कर अन्य धर्म का अवलम्बन करने से अकल्याण।

धर्मशास्त्र का अधिकारी—

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिञ्ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥१६॥

अन्वय—यस्य निषेकादिश्मशानान्तः विधिः मन्त्रैः उदितः, तस्य अस्मिन् शास्त्रे अधिकारः ज्ञेयः, कस्यचित् अन्यस्य न।

शब्दार्थ—निषेकादिश्मशानान्तः—गर्भाधान संस्कार से अन्त्येष्टि संस्कार पर्यन्त, उदितः—वर्णित है।

हिन्दी अर्थ—गर्भाधान संस्कार से प्रारम्भ कर अन्त्येष्टि संस्कार पर्यन्त जिस ब्राह्मणादि वर्ण के संस्कार का विधान वैदिक मन्त्रों द्वारा किया गया है, उन्हीं का इस धर्मशास्त्र में अधिकार है अन्य किसी का नहीं।

संस्कृत व्याख्या—यस्य—ब्राह्मणादिवर्णस्य, निषेकादिश्मशानान्तः—निषेक

आदि: श्मशानश्च अन्ते यस्य स:, गर्भाधानादारभ्यान्त्येष्टि पर्यन्त:, विधि:—संस्कार-विधि:, मन्त्रै:—वेदवचनै:, उदित:—वर्णित:, तस्य—द्विजस्य, अस्मिन् शास्त्रे—मनुप्रणीतस्मृतिग्रन्थे, अधिकार:—श्रवणाध्ययनेऽधिकार:, ज्ञेय:—ज्ञातव्य:, कस्यचित् अन्यस्य—अपरस्य संस्कारहीनम्लेच्छादिवर्णस्य, न।

विशेष—संस्कार—सम् उपसर्गपूर्वक कृ धातु से घञ् प्रत्यय लगने पर भूषण अर्थ में संस्कार शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है परिष्करण। शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों को संस्कार कहते हैं। मनु के अनुसार इनकी संख्या १३ है—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामधेय, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, उपनयन, केशान्त, समावर्तन, विवाह और श्मशान।

निषेक—नि + √सिच् + घञ्। वीर्यसिञ्चन अथवा गर्भवती करना।

श्मशान:—श्मान: शया शेरतेऽत्र (√शी + आनच्, डिच्च) अथवा श्मन् शब्देन शव: प्रोक्त: तस्य शानं शयनम्—शवस्थानम्। श्मशान शब्द यहाँ मृत व्यक्ति के अन्त्येष्टि संस्कार नामक यज्ञ का द्योतक है।

अधिकार:—शास्त्र के अध्ययन एवं श्रवण में अधिकार मानना चाहिये। शूद्र अध्ययन में प्रवृत्त न हो जाए, अतः यहाँ निषेध प्रस्तुत किया गया है।

ब्रह्मावर्त देश—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥१७॥

अन्वय—सरस्वतीदृषद्वत्योः देवनद्योः यद् अन्तरं तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते।

शब्दार्थ—अन्तरं—मध्य में वर्तमान, देवनिर्मितं—पवित्रतम।

हिन्दी अर्थ—सरस्वती और दृषद्वती—इन दो देवनदियों के मध्य का जो देश है उस देवनिर्मित देश को ब्रह्मावर्त कहते हैं।

संस्कृत व्याख्या—सरस्वतीदृषद्वत्योः—सरस्वती च दृषद्वती च, सरस्वती-दृषद्वत्यौ, तयोः, एतन्नाम्न्योः; देवनद्योः—देवानां नद्योः, सुरसरितोः; अन्तरं—मध्यस्थं, तं—पूर्वकथितं, देवनिर्मितं—देवैः अमरैः निर्मितं रचितं, देशं—स्थानं, ब्रह्मावर्तं, प्रचक्षते—कथयन्ति।

विशेष—सरस्वती—सरस्वती मूलतः शुतुद्रि (सतलज) की एक सहायक नदी थी। शुतुद्रि मार्ग बदल कर विपाशा (व्यास) में मिल गई, सरस्वती उसी मार्ग से बहती रही। यह वेगवती नदी राजस्थान के समुद्र में मिलती थी। इसका आधुनिक

नाम घग्घर है—हिन्दू धर्मकोश, डा० राजबली पाण्डेय। एक नदी जो मरुस्थल के मरु में लुप्त हो चुकी है—संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे।

दृषद्वती—दृषद्वती नदी आधुनिक हरियाणा में कुछ दूर तक सरस्वती के समानान्तर बहती हुई सरस्वती में मिल जाती है—हिन्दू धर्मकोश, डा० राजबली पाण्डेय। यह नदी आर्यावर्त की पूर्वी सीमा बनाती हुई सरस्वती नदी से मिलती है—संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे।

देवः—दानाद् वा, दीपनाद् वा, द्योतनाद् वा, द्युस्थानो भवति इति वा—निरुक्त, ७.१५।

ब्रह्मावर्त—शब्द की अनेक व्याख्याएँ प्रस्तुत की गईं—जहाँ ब्रह्म व्याप्त है अथवा जहाँ वेद ध्वनि व्याप्त है, अथवा जहाँ ब्रह्म अनुवर्तन करते हैं अथवा जहाँ ब्रह्म (धर्म) आवृत है, अथवा जहाँ महर्षियों को धर्म व्यक्त (प्रकाशित) है। आधुनिक हरियाणा ही प्राचीन ब्रह्मावर्त देश है। सरस्वती एवं दृषद्वती नदियों को गंगा एवं यमुना के समान पवित्र एवं आह्लादकारी माना गया है।

सदाचार परिभाषा—

तस्मिन्देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥१८॥

अन्वय—तस्मिन् देशे वर्णानां सान्तरालानां पारम्पर्यक्रमागतः यः आचारः सः सदाचारः उच्यते।

शब्दार्थ—सान्तरालानां—वर्णसंकरों का, पारम्पर्यक्रमागतः—परम्परागत क्रम से।

हिन्दी अर्थ—उस ब्रह्मावर्त देश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि चारों वर्णों एवं वर्णसंकर जातियों का परम्परा क्रम से जो आचार उपलब्ध है, वही सदाचार है।

संस्कृत व्याख्या—तस्मिन् देशे—ब्रह्मावर्ते, वर्णानां—द्विजादिवर्णानां, सान्तरालानां—अन्तरालेन सहिताः सान्तरालाः, तेषां, संकरवर्णानां; पारम्पर्यक्रमागतः—परम्परायां भवः पारम्पर्यं, तस्य क्रमः, तेन आगतः, परम्परया प्राप्तः न त्वाधुनिकः; यः, आचारः—व्यवहारः, सः, सदाचारः—शिष्टाचारः, उच्यते—मन्यते।

विशेष—पारम्पर्यक्रमागतः—जो पूर्वज परम्परा से अन्य से अन्य में प्रवाह रूप में संक्रान्त होकर आता है न कि आधुनिक काल में निर्धारित किया जाता है। चरित्र की श्रेष्ठता वैदिक संस्कृति का मूल है, इस चारित्रिक श्रेष्ठता का सुदृढ़

स्तम्भ है—सदाचार । वैदिक ऋषि अनाचार से सदाचार की ओर अग्रसर होने की अभिलाषा व्यक्त करता है—'अहमनृतात्सत्यमुपैमि'—यजुर्वेद १.५ । सदाचार के प्रमाण रूप में विद्वत्ता एवं शिष्टता ग्रहण की जानी चाहिये अथवा देश-विशेष ? विद्वत्ता एवं शिष्टता का किसी एक देश से सम्बन्ध नहीं है, सभी देशों में विद्वान् एवं शिष्ट व्यक्ति वास करते हैं और उन्हीं का आचरण शिष्ट आचरण है—'आचारश्चैव साधूनाम्' मनुस्मृति २.६ । उस देश में प्रायः सदाचारी पुरुषों की उत्पत्ति होने से अविच्छिन्न आचार सदाचार है ।

[विरुद्धा च विगीता च दृष्टार्थादिष्टकारणे ।
स्मृतिर्न श्रुतिमूला स्याद्या चैषा सम्भवश्रुतः ।।५।।]

प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, इस प्रकार वेद विरुद्ध और सज्जनों द्वारा निन्दित जो स्मृति है वह श्रुतिमूलक नहीं है अतः प्रमाण रूप में अमान्य है, वेदमूलक यह स्मृति ही प्रमाण है ।

ब्रह्मर्षिदेश—

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ।।१९।।

अन्वय—कुरुक्षेत्रं च मत्स्याः पञ्चालाः शूरसेनकाः च, एषः ब्रह्मावर्तात् अनन्तरः ब्रह्मर्षिदेशः वै ।

शब्दार्थ—ब्रह्मावर्तादनन्तरः—ब्रह्मावर्त से कुछ ही कम ।

हिन्दी अर्थ—कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पञ्चाल एवं शूरसेन—ये ब्रह्मर्षिदेश ब्रह्मावर्त के अनन्तर हैं अर्थात् उससे कुछ ही कम हैं ।

संस्कृत व्याख्या—कुरुक्षेत्रं—कुरूणां क्षेत्रं, च, मत्स्याः—देशविशेषाः, पञ्चालाः—पञ्जाबप्रदेशाः, शूरसेनकाः—मथुराप्रदेशाः, च, एषः—पूर्वोक्तः, ब्रह्मावर्तात् अनन्तरः—पूर्वोक्तदेशात् किञ्चिदूनः, ब्रह्मर्षिदेशः—तन्नामकः, वै—प्रसिद्धोऽस्ति ।

विशेष—कुरुक्षेत्र—वर्तमान दिल्ली के निकट एक विस्तृत क्षेत्र, जहाँ कौरव-पाण्डवों का महायुद्ध हुआ था । अम्बाला से २५ मील पूर्व स्थित एक प्राचीन तीर्थ । यह वैदिक संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था, देवताओं ने कुरुक्षेत्र में अनेकशः यज्ञाहुति दी थी—शतपथ ब्राह्मण, ४.१.५.१३ । कुरुक्षेत्र के दक्षिणी भाग को खाण्डव, उत्तरी भाग को तूर्घ्न, मध्य भाग को परीण तथा मरु भाग को उत्कर कहा गया है । महाभारत में कुरुक्षेत्र के पवित्र गुणों का उल्लेख है, कुरुक्षेत्र को ब्रह्मावर्त कहा गया है—वनपर्व, ८६.६ । मूलतः कुरुक्षेत्र ब्रह्मा की वेदी कहलाता था । परशुराम ने पिता की हत्या के बदले क्षत्रियों के रक्त से पांच सरोवरों का

निर्माण किया तो इसे समन्तपञ्चक कहा गया। बाद में उनके पितरों के वरदान से यह पवित्र स्थल हुआ। वामनपुराण के अनुसार कुरुक्षेत्र का अर्द्धव्यास पांच योजन तक था। महाराज कुरु के नाम से इसका नामकरण हुआ। कुरुवंशी जन इस स्थान पर क्षय को प्राप्त हुए अतः यह कुरुक्षेत्र कहलाया। अथवा इसकी व्युत्पत्ति है—श्रेष्ठ कर्म करो, शीघ्र त्राण होगा—कुरु वा सुकृतं क्षिप्रमत्र त्राणं भविष्यतीति।

मत्स्य—देश अथवा उसके अधिवासियों के लिए प्रयुक्त शब्द। मत्स्य का का अपर नाम विराट देश है।

पञ्चाल—कान्यकुब्ज या पञ्जाब।

शूरसेन—मथुरा। शूरसेन नामक राजा का निवास स्थान अथवा जहाँ सुरा का आधिक्य हो वह स्थान अथवा प्राचीन शूरसेनकों की राजधानी। वैदिक साहित्य में इसका उल्लेख नहीं है तथापि ईसा पूर्व यह नगरी प्रसिद्ध हो चुकी थी। आरम्भ से ही यह नगरी कृष्ण लीला एवं भागवत धर्म के लिए प्रसिद्ध रही है। प्राचीनकाल में इसका विस्तार २० योजन माना गया है।

ब्रह्मावर्त—जहाँ वेदों का प्रचार-प्रसार पर्याप्त मात्रा में हुआ था। उस पवित्रतम प्रदेश की अपेक्षा अन्य प्रदेश कम महत्त्वपूर्ण हैं।

ब्रह्मर्षि देश—ब्रह्मर्षियों के साथ सम्बन्ध के कारण यह ब्रह्मर्षि देश है। महर्षियों के निवास योग्य होने से यह ब्रह्मर्षि देश है। दिल्ली के समीप (दुआब) से मथुरा तक का मार्ग ब्रह्मर्षि देश कहलाता है।

अनुकरणीय चरित्र—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥२०॥

अन्वय—एतद्देशप्रसूतस्य अग्रजन्मनः सकाशात् पृथिव्यां सर्वमानवाः स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्।

शब्दार्थ—एतद्देश—ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि अथवा कुरुक्षेत्र, अग्रजन्मनः—ब्राह्मण के, सकाशात्—सामीप्य से।

हिन्दी अर्थ—पृथ्वी पर सभी मनुष्य इस देश में उत्पन्न ब्राह्मणों से अपने-अपने चरित्र की शिक्षा लें।

संस्कृत व्याख्या—एतद्देशप्रसूतस्य—एते च देशाः एतद्देशाः, तेषु प्रसूतस्य, ब्रह्मावर्तब्रह्मर्षिदेशजातस्य; अग्रजन्मनः—अग्रे जन्म यस्य असौ अग्रजन्मा, तस्य, विप्रस्य; सकाशात्—सान्निध्यात्, स्वं स्वं—आत्मीयात्मीयं, चरित्रं—आचरणं, शिक्षेरन्—जानीयुः।

विशेष—अग्रजन्मनः—ब्रह्मा के अग्र भाग अर्थात् मुख से जिसका जन्म हुआ—ब्रह्मणोऽग्रभागान्मुखाज्जन्म यस्य सः। अथवा प्रमुख रूप से जिसका जन्म हुआ—अग्ररूपेण मुख्यरूपेण जन्म यस्य सः। अथवा नेतृत्व के लिए जिसका जन्म हुआ—अग्रे गमनाय नेतृत्वाय जन्म यस्य सः।

सृष्टि के आदि से भारतवर्ष ज्ञान रूप प्रचुर सम्पदा के लिए प्रसिद्ध रहा है। समग्र पृथिवी पर जब सभ्यता का विकास आरम्भ हुआ ही था यहाँ वेद की ऋचाएं रची जा रहीं थी अतः पृथ्वी पर अगाध ज्ञान का वितरण करने से भारत राष्ट्र को 'शिक्षक' का गौरवशाली पद प्राप्त हुआ।

मध्यदेश—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥२१॥

अन्वय—यत् हिमवद्विन्ध्ययोः मध्यं, विनशनात् अपि प्राक्, प्रयागात् च प्रत्यक्, एव मध्यदेशः प्रकीर्तितः।

शब्दार्थ—विनशनात्—कुरुक्षेत्र से, प्राक्—पूर्व, प्रत्यक्—पश्चिम।

हिन्दी अर्थ—हिमालय और विन्ध्य पर्वत के मध्य, विनशन अर्थात् कुरुक्षेत्र के पूर्व तथा प्रयाग के पश्चिम में स्थित प्रदेश 'मध्यदेश' कहा गया है।

संस्कृत व्याख्या—यत् हिमवद्विन्ध्ययोः—हिमवांश्च विन्ध्यश्च हिमवद्विन्ध्यौ, तयोः, उत्तरदक्षिणदिगवस्थितयोः हिमालयविन्ध्यगिर्योः; मध्यं--मध्यस्थं, विनशनात्—एतन्नामकात् देशविशेषात्, अपि, प्राक्—पूर्वं, प्रयागात्—तीर्थराजप्रयागात्, च, प्रत्यक्—पश्चिमं, एव, (यः देशः सः) मध्यदेशः, प्रकीर्तितः—प्रसिद्धः।

विशेष—हिमवत्—उत्तर दिशा में स्थित हिमवान् पर्वत श्रृंखला।

विन्ध्य—विदधाति करोति भयम्। यह भयंकर पर्वतश्रेणी उत्तर भारत क दक्षिण भारत से पृथक् करती है तथा सात कुल पर्वतों में से एक है। यह श्रृंखला मध्यदेश की सीमा निर्धारित करती है।

विनशन—उपर्युक्त दोनों पर्वतों के मध्य का भाग। हिसार जिले (पंजाब) में लुप्त सरस्वती नदी के समीप का क्षेत्र।

प्रयाग—गंगा (स्वच्छ जल) यमुना (कृष्ण वर्ण जल) और सरस्वती का संगम स्थल प्रयाग है किन्तु सरस्वती का कोई बाह्य अस्तित्व शेष नहीं है। प्रजापति ने प्रयाग में आहुति की मध्यम वेदी निर्मित की थी ऐसा कहा जाता है। यहाँ स्नान करने से मनुष्य स्वर्गारोहण करता है।

मध्यदेश—न अधिक उत्कृष्ट, न अधिक निकृष्ट होने से मध्यदेश कहलाता है,

न कि मध्यस्थानीय होने से—मेधातिथि। पृथिवी का जघन स्थानीय प्रदेश—सर्वज्ञनारायण।

आर्यावर्तदेश—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥२२॥

अन्वय—पूर्वात् तु समुद्रात् आ वै पश्चिमात् तु आ, तयोः गिर्योः एव अन्तरं बुधाः आर्यावर्तं विदुः।

शब्दार्थ—बुधाः—विद्वज्जन, विदुः—जानते हैं।

हिन्दी अर्थ—पूर्वी समुद्र से पश्चिमी समुद्र तक हिमालय और विन्ध्याचल पर्वतों के मध्यवर्ती देश को पण्डित जन 'आर्यावर्त' देश कहते हैं।

संस्कृत व्याख्या—पूर्वात् तु समुद्रात्—पूर्वदिशायां महासागरात्, आ—पर्यन्तं, वै, पश्चिमात् समुद्रात् तु आ वै—पश्चिमदिशि समुद्रपर्यन्तं, तयोः—पूर्वोक्तयोः, गिर्योः—हिमाचलविन्ध्याचलयोः, एव, अन्तरं—मध्यवर्तिनं प्रदेशं, बुधाः—विद्वांसः, आर्यावर्तं—आर्याः आवर्तन्ते अत्रेति, विदुः—जानन्ति।

विशेष—आ—'आङ् मर्यादाभिविध्योः'—अष्टाध्यायी २.१.१२। यहाँ मर्यादा अर्थ में प्रयुक्त है।

आर्यावर्त—शब्द का अर्थ है 'पुण्यभूमि' अथवा आर्यों का स्थाई निवास स्थल—आर्या आवर्तन्तेऽत्र इति।

टीकाकार मेधातिथि आर्यावर्त की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—

"आर्या आवर्तन्ते तत्र पुनः पुनरुद्भवन्ति।
आक्रम्याक्रम्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति॥"

आर्य वहाँ निवास करते हैं पुनः-पुनः अभ्युदय की ओर अग्रसर होते हैं। बारम्बार आक्रमण करके भी म्लेच्छ (विदेशी जातियाँ) वहाँ स्थापित नहीं हो पाते हैं।

आर्यावर्त की सीमा एवं स्थिति के विषय में धर्मसूत्रों में मतैक्य नहीं है—आर्यावर्त मरुमिलन के पहले सरस्वती के पूर्व, कालकवन के पश्चिम, पारियात्र एवं विन्ध्य पर्वत के उत्तर तथा हिमालय के दक्षिण स्थित है—वशिष्ठ धर्मसूत्र, १.८.९, १२-१३। गंगा एवं यमुना के मध्य का देश आर्यावर्त है—बौधायन धर्मसूत्र, १.१.२८।

आधुनिक दृष्टि से उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्य पर्वत, पूर्व में बंग की खाड़ी एवं पश्चिम में अरब सागर, आर्यावर्त की सीमाएँ एवं उत्तर भारत के प्रायः सभी जनपद इसके विस्तृत भूभाग हैं।

यज्ञिय देश और म्लेच्छदेश—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः ।
स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः ॥२३॥

अन्वय—यत्र तु कृष्णसारः मृगः स्वभावतः चरति सः देशः यज्ञियः ज्ञेयः, अतः परः तु म्लेच्छदेशः ।

शब्दार्थ—स्वभावतः—स्वाभाविक रूप से, यज्ञियः—यज्ञानुष्ठान के योग्य, म्लेच्छ—असभ्य ।

हिन्दी अर्थ—जहाँ कृष्णसार मृग स्वेच्छानुसार विचरण करता है वह भूमि यज्ञ के योग्य है, इसके अतिरिक्त भाग म्लेच्छ देश है ।

संस्कृत व्याख्या—यत्र—यस्मिन् प्रदेशे, तु, कृष्णसारः—तन्नामकजातिविशेषः, मृगः—हरिणः, स्वभावतः—निसर्गतः निर्बाधं, चरति—भ्रमति, सः, देशः—स्थलः, यज्ञियः—यज्ञे भवः, यज्ञार्हः, ज्ञेयः—बोद्धव्यः, अतः परः—आर्यावर्तादिदेशादतिरिक्तः, तु, म्लेच्छदेशः—म्लेच्छानां देशः, असभ्यदेशः न यज्ञानुष्ठानयोग्यः ।

विशेष—कृष्णसार—काले-सफेद अथवा काले-पीले चिह्नों से युक्त कृष्णसार मृग जहाँ रहते हैं—मेधातिथि । शबलमृग—गोविन्दराज । प्रस्तुत स्थल पर कौन-सा पशु कथित है निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है । दक्षिण भारत में एक सुन्दर, छोटी, विरली जाति का मृग (Gazella) दिखता है परन्तु अपने हल्के भूरे रंग से वह कृष्णसार मृग से भिन्न प्रतीत होता है—बर्नल ।

'मिथिलास्थः स योगीन्द्रः क्षणं ध्यात्वाऽब्रवीन्मुनीन् ।
यस्मिन्देशे मृगः कृष्णस्तस्मिन्धर्मान्निबोधत ॥'

—याज्ञवल्क्य स्मृति

मिथिलावासी वह योगिराज मुनियों से बोले, 'जहाँ कृष्णसार मृग निवास करते हैं', वे ही धर्म देश हैं ।

जहाँ कृष्ण हरिण स्वाभाविक रूप से विचरते हैं वह आर्यावर्त देश है, वहीं आध्यात्मिक महत्ता विराजमान है—महाभाष्य पतञ्जलि ।

यज्ञिय—जहाँ मृग विचरण करे वहाँ ही यज्ञ हो—यह व्याख्या अनुचित है । कोई भी देश जहाँ यज्ञ साधन उपलब्ध हों, मृग अनुपलब्ध हो, वहाँ भी यज्ञ हो सकता है । इन देशों में यज्ञ की सामग्री दर्भ, पलाश, खदिर आदि तथा तीनों वेदों के विद्वान् पुरुष भी प्राप्त होते हैं, अतः यागार्हता सम्भव है ।

म्लेच्छ देश—चारों वर्णों एवं प्रतिलोम जातियों से पृथक्, यज्ञ के अनधिकारी—मेद, आन्ध्र, शबर, पुलिन्द आदि म्लेच्छ कहलाते हैं । मृग विचरण

के अभाव वाला देश म्लेच्छ देश है क्योंकि इनमें प्रायः असाधु आचार वाले म्लेच्छ वास करते हैं। यदि कभी यह म्लेच्छ ब्रह्मावर्त पर विजय प्राप्त करके उसे अपना निवास स्थान बना लें तो वह देश भी म्लेच्छ देश कहलाने लगेगा। इसी प्रकार यदि कोई क्षत्रिय वंशी श्रेष्ठ राजा म्लेच्छों को साधु आचरण का अभ्यास करा दे तो वह स्थान भी आर्य भूमि सदृश पवित्र होगा। कोई भूमि स्वयं अपवित्र नहीं होती, पाप के आधिक्य से दूषित होती है।

निवास योग्य देश—

एतान्द्विजातयो देशान्संश्रयेरन्प्रयत्नतः।
शूद्रस्तु यस्मिन्कस्मिन्वा निवसेद् वृत्तिकर्शित ॥२४॥

अन्वय—द्विजातयः एतान् देशान् प्रयत्नतः संश्रयेरन्, शूद्रः तु वृत्तिकर्शितः यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेत्।

शब्दार्थ—प्रयत्नतः—यत्नपूर्वक, संश्रयेरन्—आश्रय ले, वृत्तिकर्शितः—आजीविका के कष्ट से पीड़ित।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मणादि वर्ण इन देशों में प्रयत्नपूर्वक निवास करें परन्तु शूद्र जीविका की व्यवस्था के लिए कहीं भी निवास कर सकता है।

संस्कृत व्याख्या—द्विजातयः—ब्राह्मणादयः, एतान्—पूर्वकथितान्, देशान्—भूमिभागान् प्रयत्नतः—आयासपूर्वकं (यज्ञभावनया), संश्रयेरन्—आश्रयेरन्, शूद्रः—निम्नवर्णोत्पन्नः तु, वृत्तिकर्शितः—वृत्या कर्शितः, वृत्तिकष्टपीडितः, जीविकोपार्जनोपायार्थः, यस्मिन् कस्मिन्—यत्र कुत्र स्थाने, वा, निवसेत्—वासं कुर्यात्।

विशेष—द्विजातयः—प्रथम तीन वर्णों के लिए द्विज पद का प्रयोग सम्भव है किन्तु सूत्रकाल में ही यह शब्द ब्राह्मण अर्थ में रूढ़ हो चुका है। इसका अर्थ है—द्वे जन्मनी यस्य सः—(१) शारीरिक—माता के गर्भ से। (२) ज्ञानमय—उपनयन काल में आचार्य से—जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।

शूद्रः—पुरुषसूक्त के अनुसार चतुर्थ वर्ण की उत्पत्ति विराट् ब्रह्मा के चरणों से हुई थी—'पद्भ्यां शूद्रो अजायत'—ऋग्वेद १०-९०-१२। प्रथम तीन वर्णों की सेवा इसका कार्य है। समाज का अविभाज्य अंग शूद्र स्वतन्त्र श्रमिक है, दास नहीं। इसीलिए वह जीविका पीड़ित होने की स्थिति में स्थान से बंधा नहीं है। सुभिक्ष अथवा दुर्भिक्ष में कुटुम्ब के भरण-पोषण के उद्देश्य से वह भी म्लेच्छ देशों का त्याग कर द्विजाति बाहुल्य वाले देशों में निवास कर सकता है।

कहा गया है प्रिय जन्म स्थान त्याग कर भी पवित्रतम ब्रह्मावर्त आदि देशों में निवास करना चाहिए क्योंकि—(१) समशीतोष्ण वातावरण में नित्य और काम्य कर्मों का सम्यक् अनुष्ठान सम्भव है। (२) पूर्व अथवा उत्तर दिशा में निर्बाध

स्वाध्याय सम्भव है। (३) गंगा आदि तीर्थों के जल में स्नान से अदृष्ट लाभ सम्भव है।

वर्ण धर्मों का व्याख्यान—

एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता।
सम्भवश्चास्य सर्वस्य वर्णधर्मान्निबोधत ॥२५॥

अन्वय—धर्मस्य एषा योनिः वः समासेन प्रकीर्तिता, अस्य सर्वस्य सम्भवः च वर्णधर्मान् निबोधत।

शब्दार्थ—योनिः—उत्पत्तिस्रोत, समासेन—संक्षेपानुसार, सम्भवः—उत्पत्ति।

हिन्दी अर्थ—मैंने आपके समक्ष धर्म के इस उत्पत्तिभूत केन्द्रप्रदेश को तथा समस्त संसार की उत्पत्ति के विज्ञान को संक्षेप में कहा अब वर्णों के धर्मों को भलीभाँति जानिए।

संस्कृत व्याख्या—धर्मस्य—मोक्षसाधनस्य, एषा—पूर्ववर्णिता, योनिः—जन्मस्थानं, वः—युष्माकं, समासेन—संक्षेपेण साररूपेण वा, प्रकीर्तिता—उक्ता, अस्य सर्वस्य—निखिलचराचरजगतः, सम्भवः—उत्पतिः, च, कथिता, सम्प्रति यूयं, वर्णधर्मान्— वर्णाश्रमकर्त्तव्यकर्माणि, निबोधत—शृणुत।

विशेष—वर्णधर्म—यह शब्द मात्र ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण के कर्त्तव्यों का उपलक्षक न होकर वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, वर्णाश्रम धर्म, गुण धर्म एवं नैमित्तिक धर्म का उपलक्षक है—

'वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम्।
वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा ॥'

—भविष्य पुराण

(१) वर्ण धर्म—जो केवल जाति को दृष्टि में रख कर किया गया है, यथा—ब्राह्मणो न हन्तव्यः—ब्राह्मण की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

(२) आश्रम धर्म—जो केवल आश्रम के लिए विहित है, यथा—अहरहः भैक्षं चरेत्—ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षाचरण करे।

(३) वर्णाश्रम धर्म—जो वर्ण तथा आश्रम दोनों के लिए निश्चित है, यथा—बैल्वः पालाशो ब्राह्मणस्य दण्डः—ब्राह्मण का दण्ड बिल्व पलाश काष्ठ से निर्मित हो।

(४) गुण धर्म—जो केवल गुणों पर आधारित है, यथा—षड्भिः परिहार्यः—छः पापों से मुक्त हो।

(५) नैमित्तिक धर्म—जो केवल निमित्त के उद्देश्य से सम्पन्न होते हैं, यथा—प्रायश्चित्त ।

संस्कारविधि—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥२६॥

अन्वय—इह च प्रेत्य च द्विजन्मनां पावनः निषेकादिः शरीरसंस्कारः पुण्यैः वैदिकैः कर्मभिः कार्यः ।

शब्दार्थ—प्रेत्य—मृत्यु के अनन्तर अर्थात् परलोक में, वैदिकैः—वेदविहित मन्त्रों से ।

हिन्दी अर्थ—इस लोक में तथा परलोक में ब्राह्मणादि वर्णों के पवित्र गर्भाधानादि शारीरिक संस्कार पुण्यदायक वैदिक मन्त्रों से करने चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या—इह—अस्मिन् लोके, च प्रेत्य—मृत्योरनन्तरं, च, द्विजन्मनां—ब्राह्मणादिवर्णानां, पावनः—पुनीतः, पापप्रक्षालकः इत्यर्थः, निषेकादिः—गर्भाधानादिः, शरीरसंस्कारः—देहदोषपरिमार्जनोपायः, पुण्यैः—शुभैः, वैदिकैः—वेदे भवा वैदिकाः, तैः, श्रुत्यनुरूपैः, कर्मभिः—मन्त्रद्रव्यक्रियायोगानुष्ठानैः, कार्यः—कर्त्तव्यः ।

विशेष—निषेकादिः—गर्भाधान से लेकर उपनयन संस्कार तक । निषेक गुण से ही पिता की सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त होता है, तदतिरिक्त स्थितियों में नहीं ।

संस्कारः—संस्कार व्यक्ति व समाज के उन्नायक तत्त्व हैं जिनके अन्तर्गत मानव जीवन को विशिष्ट धार्मिक प्रक्रियाओं द्वारा उत्तम बनाया जाता है ।

पावनः—दुर्भाग्य को समाप्त करने वाला कर्म ।

पुण्यैः—सौभाग्य का वाहक कर्म ।

संस्कार दोषनाशक—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥२७॥

अन्वय—गार्भैः होमैः जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः द्विजानां बैजिकं गार्भिकं च एनः अपमृज्यते ।

शब्दार्थ—गार्भैः—गर्भ को शुद्ध करने वाले, बैजिकं—पितृ वीर्य सम्बन्धी, गार्भिकं—मातृ गर्भ सम्बन्धी, एनः—पाप, अपमृज्यते—शुद्धि की जाती है ।

हिन्दी अर्थ—गर्भ को शुद्ध करने वाले हवन, जातकर्म, चूडाकरण तथा मेखलाबन्धन अर्थात् यज्ञोपवीतादि संस्कारों से द्विजों के पितृशुक्र एवं मातृगर्भ सम्बन्धी दोष नष्ट हो जाते हैं ।

संस्कृत व्याख्या—गार्भैः—गर्भाय हिताः गार्भाः, तैः, गर्भशुद्धिकरैः, होमैः—देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागैः, जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः—जातस्य कर्म, चूडाया इदं चौलकरणं, मुञ्जाया इयं मौञ्जी, तस्य निबन्धनं, उपनयनं, तैः; द्विजानां—ब्राह्मणादीनां, बैजिकं—बीजाद् भवं, पितृवीर्यजन्यं; गार्भिकं—गर्भे भवं, मातृगर्भजन्यं; च, एनः—दोषः, अपमृज्यते—अपाक्रियते।

विशेष—गार्भैः होमैः—गर्भ रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले गार्भ होम जातकर्म संस्कार काल में सम्पादित होते हैं। यथा—पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, गर्भाधान आदि। गर्भाधान होम नहीं है अतः होम शब्द कर्म के अर्थ में प्रयुक्त है।

बैजिकं गार्भिकम्—अदृष्ट दुःख के दो कारण कहे गए हैं—(१) बैजिक—बीज में होने वाले, पुरुष का वीर्य एवं रक्त बीज है। (२) गार्भिक—गर्भ में होने वाले, स्त्री वीर्य गर्भ है। बालक की शारीरिक शुद्धि जल से हो जाती है और वह स्पृश्य हो जाता है—'अद्भिः गात्राणि शुद्ध्यन्ति'—मनु, ५.१०६। बालक की आन्तरिक शुद्धि जिससे वह श्रौत तथा स्मार्त कर्मों के अनुष्ठान के योग्य हो सके, संस्कारों द्वारा दोषों के अपमार्जन से ही होती है—'बीजगर्भसमुद्भवैनो निर्बर्हणो जातकर्मादिजन्यः'—वीरमित्रोदय संस्कारप्रकाश, भाग १।

इन संस्कारों की सम्पन्नता का प्रथम अधिकार पिता को है। जातकर्म संस्कार का मन्त्र यही भाव देता है—'आत्मा वै पुत्र नामासि'—शतपथ ब्राह्मण १४.६.४.८। पिता के अभाव में ज्येष्ठ भ्राता को संस्कार सम्पादित करना चाहिए—'असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः'—याज्ञवल्क्य स्मृति, २.१२४।

शरीर का ब्रह्मत्व—

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥२८॥

अन्वय—स्वाध्यायेन, व्रतैः, होमैः, त्रैविद्येन, इज्यया, सुतैः, महायज्ञैः, यज्ञैः च इयं तनुः ब्राह्मी क्रियते।

शब्दार्थ—व्रतैः—मधुमांसादि के त्याग रूप सङ्कल्प से, त्रैविद्येन—वेदत्रयी के ज्ञान से, इज्यया—देवर्षिपितृतर्पण से।

हिन्दी अर्थ—वेदाध्ययन, मद्यमांसादित्याग रूप व्रतधारण, प्रातर्मध्यन्दिन सायंकालीन हवन, त्रैविद्यव्रतसम्पादन, देवर्षिपितृतर्पण, पुत्रजन्म, पञ्चमहायज्ञानुष्ठान एवं ज्योतिष्टोमादि यज्ञों से यह शरीर ब्रह्म-साक्षात्कार के योग्य बनाया जाता है।

संस्कृत व्याख्या—स्वाध्यायेन—वेदोपनिषदभ्यासेन, व्रतैः—यमनियमसंयमपालनैः, होमैः—अग्निहोत्रादिभिः, त्रैविद्येन—वेदत्रयाणां ज्ञानेन, इज्यया—देवर्षिपितृतर्पणादि कर्मणा, सुतैः—गृहस्थाश्रमे पुत्रोत्पादनैः, महायज्ञैः—पञ्चब्रह्मादि-

यज्ञैः, यज्ञैः—यागावशिष्टैः च, इयं तनुः—शरीरोऽयं, ब्राह्मी—ब्रह्मज्ञानयोग्यं, क्रियते—सम्पाद्यते ।

विशेष—त्रैविद्येन—'त्रयाणां वेदानामध्ययनेन'—तीनों वेदों ऋग्, यजुः, साम का अर्थज्ञान । त्रैविद्य प्राप्ति की अवधि बताते हुए कहा गया है—ब्रह्मचारी गुरु के समीप 12 × 3 = 36 अथवा 6 × 3 = 18 अथवा 3 × 3 = 9 वर्ष तक अथवा तीनों वेदों के अध्ययन की अवधि तक अध्ययन करे—मनु० ३/१

महायज्ञैः—देवयज्ञ—अग्निहोत्र, भूतयज्ञ—बलिवैश्वदेवयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ—सन्ध्या, मनुष्ययज्ञ—अतिथियज्ञ ।

ब्राह्मी—श्रौत एवं स्मार्त कर्म (वेदों के उच्चारण की योग्यता एवं वेदानुकूल कर्मों में अधिकारिता) के अनुष्ठान से यह शरीर ब्रह्मभाव से युक्त हो जाता है । किन्तु शरीर तो पञ्चता अर्थात् विनाश को प्राप्त हो जाता हैं, उससे मोक्षप्राप्ति कैसे सम्भव है ? उत्तर है कि शरीर में स्थित संस्कृत आत्मा ब्रह्मत्व प्राप्ति के योग्य बना दी जाती है ।

जातकर्म, अन्नप्राशन संस्कार—

प्राङ् नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम् ॥२९॥

अन्वय—नाभिवर्धनात् प्राक् पुंसः जातकर्म विधीयते, अस्य मन्त्रवत् हिरण्यमधुसर्पिषां प्राशनं च ।

शब्दार्थ—पुंसः—मानव शिशु का, सर्पिष्—घृतबिन्दु, प्राशनं—चटाना ।

हिन्दी अर्थ—नाभिच्छेदन के पूर्व बालक का जातकर्म संस्कार किया जाता है । उसे सुवर्ण, मधु तथा घृत का प्राशन मन्त्रों से कराया जाता है ।

संस्कृत व्याख्या—नाभिवर्धनात्—नाभेः वर्धनं नाभिवर्धनं तस्मात् नालच्छेदनात्; प्राक्—पूर्वं, पुंसः—बालकस्य, जातकर्म—तन्नामकः संस्कारः, विधीयते—विधानं क्रियते, अस्य—जातस्य, मन्त्रवत्—मन्त्रोच्चारणसहितं, हिरण्यमधुसर्पिषां—हिरण्यञ्च मधु च सर्पिश्च, हिरण्यमधुसर्पींषि, तेषां, सुवर्णमधुघृतानां, प्राशनं—प्रकर्षेण अशनं, जिह्वास्पर्शनं, च, कारयेत् ।

विशेष—नाभिवर्धनात्—'वृधुच्छेदने'—यहाँ वर्धन का अर्थ है छेदन ।

पुंसः—पुल्लिग बालक ही संस्कार करने योग्य है । निश्चित रूप से शूद्र तथा स्त्री के समन्त्रक संस्कार की अनुमति नहीं प्राप्त होती है । नपुंसक के संस्कार का सर्वथा निषेध है यद्यपि उन्हें पाणिग्रहण का अधिकार प्राप्त है ।

प्राशनम्—'प्रतिबदामि मधुनो घृतस्य' मन्त्र द्वारा शिशु को सुवर्ण खण्ड या सुवर्ण अंगूठी से मधु तथा घृत चटाना चाहिए ।

जातकर्म संस्कार की इस विधि का समर्थन अन्य ग्रन्थ भी करते हैं—

'प्राङ्नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते।
मन्त्रतः प्राशनश्चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्॥

—वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग १

नामकरण संस्कार—

नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते॥३०॥

अन्वय—अस्य नामधेयं तु दशम्यां वा द्वादश्यां पुण्ये तिथौ वा मुहूर्ते वा गुणान्विते नक्षत्रे कारयेत्।

शब्दार्थ—नामधेयं—नामकरण संस्कार, गुणान्वित—गुणसम्पन्न।

हिन्दी अर्थ—उस शिशु का नामकरण दसवें या बारहवें दिन अथवा किसी शुभ तिथि, अथवा मुहूर्त अथवा गुणयुक्त नक्षत्र में किया जाता है।

संस्कृत व्याख्या—अस्य—जातस्य शिशोः, नामधेयं—नाम + धेयट् नामकरणं तु, दशम्यां—दशमदिने, वा, द्वादश्यां—द्वादशके दिवसे, तत्रापि ज्योतिःशास्त्रानुसारेण, पुण्ये तिथौ,—शुभतिथौ, वा, मुहूर्ते—प्रशस्तकाले, वा, गुणान्विते नक्षत्रे—गुणैः अन्वितः गुणान्वितः, तस्मिन्, विविधगुणसमृद्धनक्षत्रे; कारयेत्—सम्पादयेत्।

विशेष—नामकरण संस्कार का समर्थन अन्य विद्वान् इस प्रकार करते हैं—
'तस्मात्पुत्रस्य जातस्य नाम कुर्यात्।'

—शतपथ ब्राह्मण ६.१.३.९

व्यवहार के लिए, सौभाग्य वृद्धि के लिए, यश के लिए नामकरण संस्कार अनिवार्य है—

नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म॥'

—वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश भाग १

वर्णानुसार नामव्यवस्था—

मङ्गल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्।
वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्॥३१॥

अन्वय—ब्राह्मणस्य मङ्गल्यं, क्षत्रियस्य बलान्वितं, वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितं (नाम) स्यात्।

शब्दार्थ—बलान्वितं—शक्तिसूचक, धनसंयुक्तं—भौतिकसमृद्धिवाचक, जुगुप्सितं—घृणित, निन्दित।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण का माङ्गलिक शब्द सूचक, क्षत्रिय का बलवाचक शब्द

से संयुक्त, वैश्य का धन शब्द से अन्वित तथा शूद्र का निन्दित शब्द युक्त नाम करना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या — ब्राह्मणस्य—द्विजबालकस्य, मङ्गल्यं—माङ्गलिकपदान्वितं, क्षत्रियस्य—राजकुलोत्पन्नस्य, बलान्वितं—बलेन अन्वितं, शक्तिशब्दसम्पन्नं, वैश्यस्य-वणिक्वर्गस्य, धनसंयुक्तं—धनेन संयुक्तं, सौभाग्य-समृद्धिसूचकं, शूद्रस्य—निम्न-वर्णोत्पन्नशिशोः, तु, जुगुप्सितं—दीनहीनभावमयं, (नाम), स्यात्—नामकरणसंस्कारं कुर्यात् ।

विशेष—मङ्गल्यम्—'मङ्गलाय हितं तत्र वा साधु'—तद्धितप्रत्ययान्त यह शब्द हित अथवा साधु भाव के माध्यम से चिरजीवन, बहुधन, दृष्ट-अदृष्ट सुख रूप फल की सिद्धि आदि का कथन करता है । गृह्यसूत्रों में तद्धितान्त शब्द का प्रतिषेध है—'कृतं कुर्यान्न तद्धितमिति'—पराशर । यह भी कहा गया है, कि द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा कुर्यादिति'—बौधायन गृह्य सूत्र ।

मङ्गल का एक अर्थ है धर्म और मङ्गल्य का अर्थ हुआ-धर्म का साधन । ऋषिगणों और देवगणों के नाम का कीर्तन भी धर्मसाधक होता है अतः श्री तथा लक्ष्मी का अभिलाषी प्रातः उठ कर पुण्य नामों का ध्यान करे—

देवतानामृषीणां च द्विजानां पुण्यकर्मणाम् ।
प्रातः प्रबुद्धः श्रीकामो नरो नामानि कीर्तयेद्' ।।

वर्णसूचक विशेषण—

शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् ।
वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ।।३२।।

अन्वय—ब्राह्मणस्य शर्मवत्, राज्ञः रक्षासमन्वितं, वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं, शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतं (नाम) स्यात् ।

शब्दार्थ—शर्मवत्—कल्याणात्मक, पुष्टिसंयुक्त—समृद्धिसूचक, प्रेष्यसंयुक्त—दासत्वपरक ।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण का कल्याणपरक, राजा का रक्षणात्मक, वैश्य का भौतिक समृद्धि युक्त और शूद्र का दासत्व सूचक (उपनाम) करना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या — ब्राह्मणस्य—श्रेष्ठवर्णोत्पन्नस्य, शर्मवत्—कल्याणमयं, शुभशर्मादिः, राज्ञः—नृपस्य, रक्षासमन्वितं—रक्षया समन्वितं, सुरक्षणसम्पन्नं, शक्तिवर्मादिः, वैश्यस्य—वणिजः, पुष्टिसंयुक्तं—पुष्ट्या संयुक्तं, भौतिकोन्नतिवाचकं वसुभूत्यादिः; शूद्रस्य—चतुर्थवर्णस्य, प्रेष्यसंयुतं—प्रेष्येण संयुक्तं, दासादिः उपलक्षकं दीनदासादिः स्यात्—उपनाम कुर्यात् ।

विशेष—प्रस्तुत श्लोक पूर्व श्लोक का उत्तरार्द्ध है । ब्राह्मण के नाम का

द्वितीय भाग शर्म शब्द से युक्त होना चाहिए। मङ्गल्य शब्द शर्म के ही अर्थ शरण, आश्रय, सुखादि का द्योतन करता है, यथा—श्रीशर्मा। क्षत्रिय के नाम का द्वितीय भाग रक्षा शब्द से युक्त होना चाहिए, रक्षा का अर्थ है परिपालन, यथा—विक्रमपाल। वैश्य के नाम का द्वितीय भाग पुष्टि शब्द से युक्त होना चाहिए, पुष्टि का अर्थ है वृद्धि और गुप्ति, यथा—गोवृद्ध-धनगुप्त। शूद्र के नाम का द्वितीय भाग प्रेष्य शब्द से युक्त होना चाहिए। प्रेष्य का अर्थ है दास, यथा—देवदास। प्रेष्य—प्र + ईष्—कर्मणि ण्यत्—प्रेरणीयः, नियोज्यः। वर्तमान काल में बालकों के नाम स्वेच्छापूर्वक रखे जाते हैं।

चारों वर्णों के नामों का संकेत करते हुए पुराण साहित्य ने कहा है—

शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम्।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः॥

—विष्णु पुराण ३.१०.९

शर्मदेवश्च विप्रस्य वर्मत्राता च भूभुजः।
भूतिदत्तश्च वैश्यस्य दासः शूद्रस्य कारयेत्॥ —यमसंहिता

स्त्री नामकरण—

स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्।
मङ्गल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत्॥२३॥

अन्वय—स्त्रीणां सुखोद्यम् अक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरं, मङ्गल्यं, दीर्घवर्णान्तम् आशीर्वादाभिधानवत् (स्यात्)।

शब्दार्थ—सुखोद्यं—सरलतापूर्वक उच्चारण योग्य, अक्रूरं—कोमलवर्ण समन्वित।

हिन्दी अर्थ—स्त्रियों का नाम सरलतापूर्वक उच्चारण के योग्य, कठोर वर्णों (टवर्गादि) से रहित, विशेष रूप से स्पष्ट अर्थ वाला, आकर्षक, मङ्गलसूचक, दीर्घ स्वरान्त तथा आशीर्वादात्मक करना चाहिए।

संस्कृत व्याख्या—स्त्रीणां—बालिकानां, सुखोद्यं—सुख + वद् + यत् सुखेन उच्चार्यं, अक्रूरं—परुषवर्णरहितं, विस्पष्टार्थं—विस्पष्टः अर्थः यस्य, तत्, स्फुटार्थकं, मनोहरं—मनांसि हरतीति मनोहरः तं, स्नेहपरिपूर्णं, मङ्गल्यं—शुभं, दीर्घवर्णान्तं—दीर्घवर्णः अन्ते यस्य तत् दीर्घस्वरान्तं, आशीर्वादाभिधानवत्, आशीर्वाचकं, स्यात्—कर्त्तव्यम्। यथा—यशोदादेवीति।

विशेष—अक्षरों की विषम (यथा-तीन) सम्पन्न, दीर्घ आकारान्त स्वर समन्वित, तद्धित प्रत्ययान्त नाम बालिका का रखना चाहिये—

'अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियै तद्धितम्'।

—पारस्कर गृहस्सूत्र १.१७.३

निष्क्रमण, अन्नप्राशन काल—

चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले ।।३४।।

अन्वय—चतुर्थे मासि गृहात् शिशोः निष्क्रमणं कर्त्तव्यं, षष्ठे (मासि) अन्नप्राशनं, यत् वा (अस्य) कुले इष्टं मङ्गलं च ।

शब्दार्थ—इष्टं—अभिमत, मङ्गलं—कल्याणमय ।

हिन्दी अर्थ—चौथे मास में शिशु को घर से बाहर (सूर्य दर्शन के लिए) निकालना चाहिए, छठे मास में अन्नप्राशन करना चाहिए । अथवा कुलक्रम में जो परम्परा अभीष्ट तथा कल्याणप्रद हो तदनुसार उक्त दोनों संस्कार करना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या—चतुर्थे मासि—तुरीये मासे, गृहात्—कक्षात्, शिशोः—नवजातस्य, निष्क्रमणं—सूर्यदर्शनार्थं बहिर्गमनं, कर्त्तव्यं—कार्यं, षष्ठे मासि, अन्नप्राशनं—उदरपूर्त्यर्थं अन्नग्रहणं, यत् वा—अथवा, कुले—वंशपरम्परायां, इष्टं—अभिमतं, मंगलं—कल्याणप्रदं, च, तदेव कर्त्तव्यम् ।

विशेष—शिशोः—यह शब्द यहाँ शूद्र-पुत्र का भी ग्रहण करता है । शिशु को पाँच मास तक दुग्ध पान कराना चाहिए ।

विभिन्न ग्रन्थों ने शिशु के स्वास्थ्य की दृष्टि से निम्नांकित समय निर्धारित किया है—

'ततस्तृतीये कर्त्तव्यं मासि सूर्यस्य दर्शनम् ।
चतुर्थमासि कर्त्तव्यं शिशोश्चन्द्रस्य दर्शनम्' ।।
'षष्ठे अन्नप्राशनं जातेषु दन्तेषु वा' ।
—वीरमित्रोदय संस्कारप्रकाश, भाग १

षण्मासञ्चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितञ्च' ।
—सुश्रुत शरीरस्थान, १०-६४

चूडाकर्म संस्कार—

चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः ।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात् ।।३५।।

अन्वय—सर्वेषामेव द्विजातीनां चूडाकर्म धर्मतः श्रुतिचोदनात् प्रथमे वा तृतीये अब्दे कर्त्तव्यम् ।

शब्दार्थ—धर्मतः—धर्मानुसार, श्रुतिचोदनात्—वेद की आज्ञानुसार, अब्दे—वर्ष में ।

हिन्दी अर्थ—सभी द्विज बालकों का 'चूडाकरण संस्कार' धर्म की दृष्टि से एवं वेद की आज्ञानुसार प्रथम अथवा तृतीय वर्ष में करना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या—सर्वेषामेव—समग्राणामेव, द्विजातीनां—श्रेष्ठवर्णबालकानां, चूडाकर्म—चूडा क्रियते अस्मिन्निति चूडाकर्म, केशान्तसंस्कारः, धर्मतः—धर्मदृष्ट्या, श्रुतिचोदनात्—वेदप्रेरणात्, प्रथमे—आद्ये, वा, तृतीये, अब्दे—वर्षे, कर्त्तव्यं—करणीयम् ।

विशेष—**द्विजातीनाम्**—पद के ग्रहण से शूद्र बालक का निषेध हो जाता है । 'यत्क्षुरेण मार्जयेत्' मन्त्र द्वारा चूडाकर्म का अनुष्ठान किया जाता है । समृद्धि, आयुष्य एवं कल्याण के सूचक चूडाकरण संस्कार की सम्पन्नता हेतु विद्वानों ने विभिन्न आयु वर्षों का निर्धारण किया है—

'तृतीये वर्षे चौलं यथाकुलधर्मं वा' ।

—आश्वलायन गृह्यसूत्र, १-१७

'तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये' ।

—आश्वलायन गृह्यसूत्र, १७-१२

'तृतीये वर्षे चौले तु सर्वकामार्थसाधनम् ।
संवत्सरे तु चौलेन आयुष्यं ब्रह्मवर्चसम् ।।
पञ्चमे पशुकामस्य युग्मे वर्षे तु गर्हितम्' ।।

—वीरमित्रोदय संस्कारप्रकाश, भाग १

उपनयन संस्कार काल (सामान्य)—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ।।३६।।

अन्वय—ब्राह्मणस्य उपनायनं गर्भाष्टमे अब्दे, राज्ञः गर्भात् एकादशे, विशः तु गर्भात् द्वादशे (अब्दे) कुर्वीत ।

शब्दार्थ—उपनायनं—उपनयन संस्कार, राज्ञः—क्षत्रिय का, विशः—वैश्य का ।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार गर्भ से आठवें वर्ष में, क्षत्रिय बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में तथा वैश्य बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में करना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या—ब्राह्मणस्य—विप्रस्य, उपनायनं—गुरोः उप समीपं नीयते अस्मिन्निति उपनयनं, उपनयनमेव उपनायनं; गर्भाष्टमे—गर्भात् अष्टमे, जन्माष्टमे; अब्दे—वर्षे, राज्ञः—राजन्यस्य, गर्भात् एकादशे वर्षे, विशः—वैश्यस्य, तु, गर्भात् द्वादशे वर्षे, कुर्वीत—कर्त्तव्यम् ।

विशेष—**उपनायनम्**—वर्णों का छन्दों से सहज सम्बन्ध सुना जाता है अतः उन्हीं छन्दों से उपनयन किया जाता है । गायत्री के आठ अक्षरों के आधार पर आठवें वर्ष में ब्राह्मण का, त्रिष्टुप् के ग्यारह अक्षरों के आधार पर ग्यारहवें वर्ष में

क्षत्रिय का तथा जगती के बारह अक्षरों के आधार पर बारहवें वर्ष में वैश्य के उपनयन संस्कार का विधान है।

शूद्र के उपनयन के विषय में कहा गया है कि शूद्र के लिए द्विज सेवा ही गुरु सेवा है—'परिष्क्रिया परिचर्या शूद्रस्य तु द्विजसेवैव गुरौ वास इति ग्राह्यम्।'

उपनयनम्—'उप समीपे आचार्यादीनां बटोर्नयनं प्रापणमुपनयनम्'।

'अन्येषामपि दृश्यते'—अष्टाध्यायी (६-३-१३७) से उपनायनम् रूप सिद्ध हुआ।

उपनयन संस्कार काल (विशिष्टकामनापरक)—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।

राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥३७॥

अन्वय—ब्रह्मवर्चसकामस्य विप्रस्य पञ्चमे, बलार्थिनः राज्ञः षष्ठे, ईहार्थिनः वैश्यस्य अष्टमे (उपनायनं) कार्यम्।

शब्दार्थ—ईहार्थिनः—भौतिक सुखसमृद्धि के इच्छुक।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मतेजस्विता की अभिलाषा वाले ब्राह्मण बालक का गर्भ से पाँचवें वर्ष में, शक्तिशाली क्षत्रिय बालक का गर्भ से छठें वर्ष में तथा भौतिक समृद्धि के आकांक्षी वैश्य बालक का गर्भ से आठवें वर्ष में उपनयन करना चाहिए।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मवर्चसकामस्य—ब्रह्मणः वर्चः ब्रह्मवर्चसं, तत् कामः यस्य सः ब्रह्मवर्चसकामः, तस्य, वेदाध्ययनज्ञानेन तेजसः अभिलाषिणः; विप्रस्य—ब्राह्मणस्य, पञ्चमे वर्षे, बलार्थिनः—बलस्य अर्थिनः, राज्यसैन्यशक्त्याकांक्षिणः, राज्ञः—क्षत्रियस्य, षष्ठे वर्षे, ईहार्थिनः—ईहस्य अर्थिनः, सांसारिकैश्वर्यकामिनः, वैश्यस्य—विशः, अष्टमे वर्षे, उपनयनसंस्कारं, कार्यं—करणीयम्।

विशेष—ब्रह्मवर्चस्—तप और स्वाध्याय जन्य तेज ब्रह्मवर्चस् है—'तपः स्वाध्यायजञ्च तेजस्तु ब्रह्मवर्चसम्'—जटाधर। मेरा पुत्र ब्रह्मतेज को प्राप्त करे, पिता की इस इच्छा को पुत्र की इच्छा कहा जाता है क्योंकि अबोध पुत्र में इस प्रकार की कामना सम्भव नहीं है। पितृगत कामना ही पुत्र में समानाधिकरण अथवा उपचार से ग्रहण की जाती है। कहा गया है—'आत्मा वै जायते पुत्रः'।

संस्कार सम्पन्नता में आयु भेद का कारण विभिन्न वर्णों के अध्ययन-विषय, कर्त्तव्य एवं परिस्थितियों की व्यवहारिकता पर आधारित था।

उपनयन की अन्तिम अवधि—

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते।

आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥३८॥

अन्वय—ब्राह्मणस्य आषोडशाद्, क्षत्रबन्धोः आद्वाविंशात् विशः आचतुर्विंशते सावित्री न अतिवर्तते ।

शब्दार्थ—क्षत्रबन्धोः—क्षत्रियबन्धु का, सावित्री—गायत्री, न अतिवर्तते—अतिक्रमित नहीं होता है।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण बालक का सोलह वर्ष तक, क्षत्रिय का बाईस वर्ष तक और वैश्य का चौबीस वर्ष तक गायत्री उपदेश काल अतिक्रान्त नहीं होता है अर्थात् इतने वर्ष तक गायत्री प्रदान की जा सकती है।

संस्कृत व्याख्या—ब्राह्मणस्य—विप्रस्य, आषोडशात्—षोडशवर्षपर्यन्तं क्षत्रबन्धोः—क्षत्रियस्य, आद्वाविंशात्—द्वाविंशतिवर्षपर्यन्तं, विशः—वणिजः आचतुर्विंशतेः—चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तं, सावित्री—गायत्री, न, अतिवर्तते—अतिक्रमण करोति ।

विशेष—आ—'आङ् मर्यादाभिविध्योः'—अष्टाध्यायी २.१.१२ । कुछ टीकाकार आङ् उपसर्ग को मर्यादा (सोलह वर्ष के आरम्भ तक) तथा कुछ टीकाकार अभिविधि (सोलह वर्ष की समाप्ति तक) अर्थ में ग्रहण करते हैं।

सावित्री—सविता देवता (सूर्य) की उपासना जिस वैदिक मन्त्र से की जाती है गायत्री छन्दोनिबद्ध वह ऋचा सावित्री कहलाती है—

'सर्वलोकप्रसवनात् सविता स तु कीर्त्यते ।
यतस्तद्देवता देवी सावित्रीत्युच्यते ततः' ॥

—अग्निपुराण, ब्राह्मणप्रशंसा

प्रस्तुत स्थल पर सावित्री शब्द से उपनयन कर्म ही अभिप्रेत है क्योंकि वह सावित्री के माध्यम से ही परिपूर्ण होता है।

नातिवर्तते—ब्राह्मण का गायत्री छन्द—८ × ३ = २४ । क्षत्रिय का त्रिष्टुप् छन्द—११ × ३ = ३३ । वैश्य का जगती छंद—१२ × ४ = ४८ । मनुस्मृति में वर्णित काल—१६, २२, २४ से इन छन्दों के दो पादों की पूर्ति होती है। इस अवधि तक छन्दों की शक्ति संचित रहती है तथा वे तीनों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का त्याग भी नहीं करते किन्तु तृतीय पाद के बीत जाने पर ये छन्द शक्ति हीन, क्षीण सामर्थ्य तथा अत्यधिक वृद्ध होकर समाप्त हो जाते हैं। जैसा मानव जीवन में भी देखा जाता है कि मनुष्य की आयु २५ × ४ = १०० वर्ष की मानी गई है। दो पाद अर्थात् ५० वर्ष बीत जाने पर वह वृद्ध हो जाता है।

गृह्य सूत्रों में समान अतीत काल वर्णित है—'आषोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्य नातीतः कालो भवति । आ द्वाविंशाद्राजन्यस्य । आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य' ।

—पारस्कर गृह्यसूत्र, २.५.३५-३८

व्रात्यसंज्ञा—

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः ।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः ॥३९॥

अन्वय—अत ऊर्ध्वं यथाकालम् असंस्कृताः एते त्रयः अपि सावित्रीपतिताः आर्यविगर्हिताः व्रात्याः भवन्ति ।

शब्दार्थ—असंस्कृताः—उपनयन संस्कार से रहित, आर्यविगर्हिताः—सभ्य समाज द्वारा उपेक्षित ।

हिन्दी अर्थ—इस अवधि के पश्चात्, यथानिर्दिष्ट काल व्यतीत हो जाने पर, संस्कार के अभाव में ये तीनों वर्ण गायत्री से पतित अर्थात् पतितसावित्रीक, शिष्टजनों की दृष्टि में निन्दित तथा व्रात्य हो जाते हैं ।

संस्कृत व्याख्या—अतः—अस्मात् कालात्, ऊर्ध्वं—अनन्तरं, यथाकालं—कालमनतिक्रम्येति, समुचितकालपर्यन्तं; असंस्कृताः—संस्काररहिताः, एते त्रयः अपि—पूर्वोक्ताः; त्रय एव वर्णाः, सावित्रीपतिताः—गायत्रीच्युताः, पतितसावित्रीकाः इत्यर्थः; आर्यविगर्हिताः—आर्यैः विगर्हिताः भद्रजनव्यवहारायोग्याः, व्रात्याः—तत्संज्ञकाः, जातिमात्रोपजीविनः भवन्ति ।

विशेष—सावित्रीपतिताः—सावित्री से दूर अथवा उपनयन संस्कार से हीन पुरुष—'अत ऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति' । —पारस्कर गृह्यसूत्र, २.५.३९

व्रात्य—अपङ्ग एवं उन्मत्त पुरुषों द्वारा स्वपुत्र का संस्कार न किए जाने की स्थिति में वह आजीवन व्रात्य रहता था । —मदनपारिजात, पृ० ३६

व्रात्यों से सम्बन्ध विच्छेद—

नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित् ।
ब्राह्मान्यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणः सह ॥४०॥

अन्वय—ब्राह्मणः विधिवत् अपूतैः एतैः सह हि आपदि अपि कर्हिचित् ब्राह्मान् यौनान् सम्बन्धान् न आचरेत् ।

शब्दार्थ—अपूतैः—अपवित्र हुए, ब्राह्मान्—वेदविद्या सम्बन्धी, यौनान्—कन्यादान अथवा कन्या आदान सम्बन्धी ।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण शास्त्र-मर्यादा के अनुसार अपवित्र इन व्रात्यों के साथ आपत्ति काल में भी कभी वेदाध्ययन तथा विवाह सम्बन्ध न करे ।

संस्कृत व्याख्या—ब्राह्मणः—द्विजः, विधिवत्—शास्त्रोक्तरीत्या, अपूतैः—अपवित्रैः, एतैः—व्रात्यैः, सह—साकं, हि—निश्चितरूपेण, आपदि—विपद्काले, अपि,

कर्हिचित्—कदाचित्, ब्राह्मान्—वेदस्याध्ययनाध्यापनानि, यौनान्—वैवाहिक सम्बन्धान्, न, आचरेत्—धारयेत् ।

विशेष—अपूतैः—व्रात्यों की शुद्धि विधि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि व्रात्यस्तोम के द्वारा यज्ञ रूप प्रायश्चित्त करने पर उन्हें वेदाध्ययन तथा विवाह का अधिकार प्राप्त हो जाता था ।

'तेषां संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन्' ।

—पारस्कर गृह्यसूत्र, २.५.५४

ब्राह्मान्—ब्रह्म—वेद । वेद के विषय में—याजन, अध्यापन व प्रतिग्रह, तीनों प्रकार के सम्बन्धों का निषेध है । बुद्धिमान् बालक के द्वारा पिता के अभाव में स्वयं अपना उपनयन करा लेना चाहिए । बालक सत्यकाम जाबाल आचार्य हारिद्रुमत गौतम के समीप जाकर बोला—श्रीमन् ! मैं आपके पास ब्रह्मचारी बन कर रहने का इच्छुक हूँ ।

वर्णानुसार मृगचर्म—

कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः ।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥४१॥

अन्वय—ब्रह्मचारिणः आनुपूर्व्येण कार्ष्णरौरववास्तानि चर्माणि, शाणक्षौमाविकानि च वसीरन् ।

शब्दार्थ—कार्ष्णं—कृष्ण मृग चर्म, रौरवं—रुरु मृग चर्म, वास्तं—अजा (बकरी) चर्म, शाणं—पटसन, क्षौमं—रेशमी, आविकं—ऊनी ।

हिन्दी अर्थ—तीनों वर्णों के ब्रह्मचारी क्रमशः कृष्णमृगचर्म, रुरुमृगचर्म व अजाचर्म एवं सन, रेशम तथा ऊन के बने वस्त्र पहनें ।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारिणः—माणवकाः, आनुपूर्व्येण—क्रमेण, कार्ष्णरौरववास्तानि—कार्ष्णं कृष्णस्य इदं कार्ष्णं, रुरोरिदं रौरवं, वस्तस्य इदं वास्तं, कार्ष्णं च रौरवं च वास्तं च, तानि, एतन्नामानि; चर्माणि—त्वचः, शाणक्षौमाविकानि—शाणं च क्षौमं च आविकं (अवेः इदं आविकं) च, तानि, वस्त्राणि; वसीरन्—परिदधीरन् ।

विशेष—आनुपूर्व्येण—इस शब्द के दो प्रकार के अर्थ किए जाते हैं—

(१) ब्रह्मचारी स्ववर्ण के लिए निर्धारित वस्त्र धारण करें ।

(२) पूर्व-पूर्व के अभाव में उत्तर-उत्तर वस्त्र धारण करें ।

रौरव—यह पद रुरु नामक चितकबरे मृग का द्योतक है और व्याघ्र अथवा नखों से बिल बनाने वाले जन्तु का सूचक भी है—'रुरुर्व्याघ्रः', 'रुरुर्नखबिलकृत्'—क्रमदीपिका ।

चर्माणि—उत्तरीय (उपरिवस्त्र) रूप में चर्म तथा कौपीन रूप में वस्त्र (अधोवस्त्र) धारण करे।

मृगचर्म आध्यात्मिकता एवं बौद्धिकता का प्रतीक माना जाता था किन्तु उत्तरवर्ती साहित्य सन-रेशम-कुश अथवा कपास निर्मित श्वेत अथवा मञ्जिष्ठ वस्त्रों का विधान करता है—

'शाणक्षौमचीरकुतपाः'। **---गौतम धर्मसूत्र, १.१७.१८**

'सर्वं वै धारयेच्छुक्लं वासस्तत् परिधानकम्'।

—वीरमित्रोदय संस्कारप्रकाश, भाग १

मेखला धारण—

मौञ्जी त्रिवृत्समा श्लक्ष्णा कार्या विप्रस्य मेखला।
क्षत्रियस्य तु मौर्वीज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥४२॥

अन्वय—विप्रस्य मेखला, मौञ्जी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा कार्या, क्षत्रियस्य तु (मेखला) मौर्वीज्या, वैश्यस्य (मेखला) शणतान्तवी (कार्या)।

शब्दार्थ—श्लक्ष्णा—चिकनी, मौर्वीज्या—धनुष की डोरी, शणतान्तवी—सन के धागों से निर्मित।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण ब्रह्मचारी मूंज निर्मित, तीन लड़ों वाली, सम तथा चिकनी मेखला को, क्षत्रिय ब्रह्मचारी धनुष की प्रत्यञ्चा निर्मित मेखला को एवं वैश्य ब्रह्मचारी सन के धागों से निर्मित मेखला को धारण करे।

संस्कृत व्याख्या—विप्रस्य—ब्राह्मणस्य, मेखला—रसना, मौञ्जी—मुञ्जस्य इयं, मुञ्जनिर्मिता; त्रिवृत्—त्रयः वृतः यस्याः सा, त्रिगुणसम्पन्ना; समा—समुचिता, श्लक्ष्णा—चिक्कणा सुखस्पर्शा वा, क्षत्रियस्य तु, मौर्वीज्याः—मौर्व्याः ज्याः, धनुर्गुणात्मिका; वैश्यस्य, शणतान्तवी—शणस्य तन्तुः शणतन्तुः, तस्येयं, शणतन्तुभिः रचिता; मेखला—कटिबन्धनं, कार्या।

विशेष—**मेखला**—यह पवित्रता और शक्ति का पर्याय समझी जाती थी।

—पारस्कर गृह्यसूत्र, २.२.८

मौञ्जी—मुञ्ज उत्तर भारत में मूञ्ज के नाम से प्रसिद्ध।

त्रिवृत्—मेखला के तीन सूत्र तीन वेदों के उपलक्षक हैं—

'वेदत्रयेणावृतोऽहमिति मन्येत स द्विजः'।

—वीरमित्रोदय संस्कारप्रकाश, भाग १

मौर्वीज्या—मौर्वी नामक (ओषधि रूप गुण से युक्त) तृण से निर्मित मेखला। त्रिवृत् का विधान मौर्वीज्या के लिए नहीं है, ऐसा करने से प्रत्यञ्चा का स्वरूप

नष्ट हो जाएगा—मेधातिथि । प्रत्येक धनुष की प्रत्यञ्चा स्वभावतः तीन तन्तुओं से निर्मित होती है अतः उसे त्रिवृत् करने की आवश्यकता नहीं है—राघवानन्द ।

मेखला विकल्प—

मुञ्जालाभे तु कर्त्तव्याः कुशाश्मान्तकबल्वजैः ।
त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥४३॥

अन्वय—मुञ्जालाभे तु कुशाश्मन्तकबल्वजैः त्रिवृता, एकेन ग्रन्थिना, त्रिभिः पञ्चभिः वा कर्त्तव्याः ।

शब्दार्थ—मुञ्जालाभे—मुञ्ज के अनुपलब्ध होने पर, कुशाश्मन्तकबल्वजैः—कुश-अश्मन्तक-बल्वज नामक तृण विशेष ।

हिन्दी अर्थ—मूंज इत्यादि के उपलब्ध न होने पर कुश, अश्मन्तक एवं बल्वज तृण विशेषों से निर्मित, तीन लड़ वाली, एक, तीन या पाँच ग्रन्थियों से युक्त मेखला को क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य बालक धारण करें ।

संस्कृत व्याख्या—मुञ्जालाभे—मुञ्जस्य अलाभः तस्मिन्, मुञ्जादीनामनुपलब्धौ; तु, कुशाश्मन्तकबल्वजैः—कुशाश्च अश्मन्तकाश्च बल्वजाश्च तैः, एतत्तृणविशेषैः (निर्मिताः); त्रिवृता—त्रिगुणरूपा, (प्रवरानुसारं) एकेन ग्रन्थिना—सन्धिना, त्रिभिः पञ्चभिः ग्रन्थिभिः, वा, संयुक्ताः, मेखलाः कर्त्तव्याः—करणीयाः ।

विशेष—मुञ्जालाभे—के स्थान पर 'मुञ्जाद्यलाभे' पाठ होना चाहिए था, 'कर्त्तव्याः' बहुवचन इसी ओर संकेत करता है । मुञ्ज के अभाव में कुश, उसके अभाव में अश्मन्तक, एवं शण के अभाव में बल्वज से बनी मेखला का प्रयोग करना चाहिए । कुश आदि तृण औषधि के समान गुणकारी हैं ।

ग्रन्थि—ग्रन्थि संख्या वर्ण भेद पर आधारित नहीं है, प्रत्येक वर्ण इच्छानुसार एक, तीन अथवा पांच ग्रन्थियों से युक्त मेखला का उपयोग कर सकता है—'सर्वत्र यथाकुलाचारं विकल्पः'—कुल्लूक भट्ट ।

यज्ञोपवीत विधान—

कार्पासमुपवीतं स्याद्विप्रस्योर्ध्ववृतं त्रिवृत् ।
शणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याविकसौत्रिकम् ॥४४॥

अन्वय—विप्रस्य कार्पासम् ऊर्ध्ववृतं त्रिवृत्, राज्ञः शणसूत्रमयं, वैश्यस्य आविकसौत्रिकम् उपवीतं स्यात् ।

शब्दार्थ—ऊर्ध्ववृतं—दाहिने ओर बटा हुआ, सौत्रिकं—धागे वाला, उपवीतं—जनेऊ ।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण का यज्ञोपवीत कपास के सूत का, क्षत्रिय का सन के

सूत का तथा वैश्य का भेड़ के बाल (ऊन) के सूत का, दक्षिणावर्त बँटा हुआ एवं तीन लड़ों का होना चाहिए।

संस्कृत व्याख्या—विप्रस्य—ब्राह्मणस्य, कार्पासं—कार्पाससूत्रेण रचितं, ऊर्ध्ववृतं—दक्षिणावर्तितं, त्रिवृत्—त्रिगुणं, राज्ञः—क्षत्रियस्य, शणसूत्रमयं—शणसूत्रेण विरचितं, वैश्यस्य, आविकसौत्रिकं—आविकं च तत् सूत्रं आविकसूत्रं, तत्र भवं, मेषलोमसूत्रेण निर्मितं; उपवीतं—यज्ञोपवीतं, स्यात्—भवेत्।

विशेष—ऊर्ध्ववृतम्—तकली से बने सूत्र के तीन तन्तु बाएँ हाथ के तल पर रख कर दाहिने हाथ के तल से ऊपर की ओर बट कर रस्सी का सा आकार देना चाहिए। तीनों गुण (सूत्र) ऊपर की ओर बटे हुए त्रिसूत्री, नीचे से लेकर आरम्भ किए हुए, नौ गुण वाले हों—यह उदीच्यों का मत है। तीनों सूत्र नीचे की ओर बटे हुए, नीचे से ऊपर की ओर गए हुए, त्रिवृत्, ऊपर की ओर व नौ गुण नीचे की ओर हों—यह दाक्षिणात्यों का मत है।

त्रिवृत्—सूत्र को पुनः त्रिवृत् अर्थात् नौ गुणी कर लेना चाहिए—

ऊर्ध्वं तु त्रिवृतं कार्यं तन्तुत्रयमधोवृतम्।
त्रिवृतं चोपवीतं स्यात्तस्यैको ग्रन्थिरिष्यते॥

—छन्दोगपरिशिष्ट

यज्ञोपवीतं कुर्वीत सूत्राणि नव तन्तवः।

—देवलस्मृति

उपवीतम्—यज्ञ से सम्बद्ध होने के कारण इसे यज्ञोपवीत कहते हैं। उपवीत यज्ञों के एक अग्नि पर साध्य होने से एक तन्तु वाला; (इष्टि, पशु एवं सोम) अथवा अहीन, एकाह और सत्र होने से तीन तन्तुओं वाला; तीन सवन एवं दो सन्ध्याओं के योग से पाँच तन्तुओं वाला तथा सोम संस्थाओं की सात संख्या होने से सात तन्तुओं वाला हो—मेधातिथि।

आयुष्य, वीर्य एवं तेजस्विता के आधान हेतु धारण किया गया यज्ञोपवीत केवल कपास के धागों का बना होता था—

'कार्पासमुपवीतं सर्वेषाम्'।

—वीरमित्रोदय संस्कारप्रकाश, भाग १

दण्डविधान—

ब्राह्मणो बैल्वपालाशौ क्षत्रियो वाटखादिरौ।
पैलवौदुम्बरौ वैश्यो दण्डानर्हन्ति धर्मतः॥४५॥

अन्वय—धर्मतः ब्राह्मणः बैल्वपालाशौ, क्षत्रियः वाटखादिरौ, वैश्यः पैलवौदुम्बरौ, दण्डान् अर्हन्ति।

शब्दार्थ—बैल्वपालाशौ—बेल अथवा पलाश की लकड़ी, वाटखादिरौ—वट अथवा खैर की लकड़ी, पैलवौदुम्बरौ—पीलू और गूलर की लकड़ी।

हिन्दी अर्थ—धर्म की दृष्टि से ब्राह्मण को बेल अथवा पलाश (ढाक) के वृक्ष का, क्षत्रिय को वट अथवा खदिर के वृक्ष का तथा वैश्य को पीलू अथवा गूलर के वृक्ष का दण्ड धारण करना उचित है।

संस्कृत व्याख्या—धर्मतः—धर्मानुसारं, ब्राह्मणः, बैल्वपालाशौ—बिल्वस्य अयं बैल्वः, पलाशस्य अयं पालाशः, बैल्वश्च पालाशश्च, तौ, बिल्वपालाश-शाखारचितौ; क्षत्रियः, वाटखादिरौ—वटस्य अयं वाटः, खदिरस्य अयं खादिरः, वाटश्च खादिरश्च, तौ, वटखदिरकाष्ठनिर्मितौ; पैलवौदुम्बरौ—पीलोः अयं पैलवः उदुम्बरस्य अयं औदुम्बरः, पैलवश्च औदुम्बरश्च, तौ, पैलवौदुम्बरवृक्षकाष्ठविरचितौ; दण्डान्—यष्टिकाः, अर्हन्ति—धारणयोग्याः सन्ति।

विशेष– दण्डान्—वेदों की रक्षा अथवा आत्मविश्वास के लिये ब्रह्मचारी को दण्ड धारण करना आवश्यक था—

'दण्डं प्रयच्छति। तं प्रतिगृह्णाति यो मे दण्डः परापतद्वैहायसोऽधिभूम्यां तमहं पुनरादद आयुषे ब्रह्मणे ब्रह्मवर्चसायेति'। —पारस्कर गृह्यसूत्र, २.२.१२

विशेष—दण्डः—ब्राह्मण बिल्व दण्ड को ग्रहण करे क्योंकि ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस् का अधिकरण है, बिल्व ब्रह्मवर्चस् का विकार है, दोनों ब्रह्मवर्चस् से सम्बद्ध हैं। ब्राह्मण पलाश दण्ड को ग्रहण करे क्योंकि ब्राह्मण गायत्र है, पलाश गायत्र है, दोनों एक छन्द से सम्बद्ध हैं। क्षत्रिय वट दण्ड को ग्रहण करे क्योंकि वट वनस्पतियों का क्षत्र है राजन् मानवों का क्षत्र है, दोनों एक वर्ण से सम्बद्ध हैं। क्षत्रिय खदिर दण्ड को ग्रहण करे क्योंकि दोनों में शक्ति साम्य है। वैश्य पैलव दण्ड को ग्रहण करे क्योंकि दोनों में ओज सामान्य है। वैश्य उदुम्बर दण्ड को ग्रहण करे क्योंकि वैश्य पशुओं का रक्षक है तथा उदुम्बर पशुओं का विकार है दोनों पशु जाति से सम्बद्ध हैं—नन्दन।

दण्डमाप विधान—

केशान्तिको ब्राह्मणस्य दण्डः कार्यः प्रमाणतः।
ललाटसम्मितो राज्ञः स्यात्तु नासान्तिको विशः ॥४६॥

अन्वय—प्रमाणतः ब्राह्मणस्य दण्डः केशान्तिकः, राज्ञः ललाटसम्मितः, विशः तु नासान्तिकः स्यात्।

शब्दार्थ—केशान्तिकः—केशों के अन्त तक, ललाटसम्मितः—मस्तक की ऊँचाई तक, नासान्तिकः—नाक की नोक तक।

हिन्दी अर्थ—शरीर की लम्बाई के अनुसार ब्राह्मण का दण्ड केशों तक, क्षत्रिय का ललाट तक और वैश्य का नासिका तक लम्बा होना चाहिए।

संस्कृत व्याख्या—प्रमाणतः—प्रमाणानुसारतः, ब्राह्मणस्य—विप्रस्य, दण्डः—यष्टिः, केशान्तिकः—केशान्तः प्रमाणमस्येति, केशपर्यन्तः; क्षत्रियस्य, ललाटसम्मितः—ललाटेन सम्मितः, मस्तकपर्यन्तः; विशः—वैश्यस्य, तु, नासान्तिकः—नासिकान्तः प्रमाणमस्येति, नासिकापर्यन्तः; स्यात्—भवेत्।

विशेष—दण्ड की लम्बाई में अन्तर वर्ण परिचय मात्र की दृष्टि से किया गया था।

दण्ड स्वरूप विधान—

ऋजवस्ते तु सर्वे स्युरव्रणाः सौम्यदर्शनाः।
अनुद्वेगकरा नृणां सत्वचोऽनग्निदूषिताः ॥४७॥

अन्वय—ते सर्वे तु ऋजवः, अव्रणाः, सौम्यदर्शनाः, नृणाम् अनुद्वेगकराः, सत्वचः, अनग्निदूषिताः स्युः।

शब्दार्थ—अव्रणाः—बिना कटे-फटे, सौम्यदर्शनाः—सुदर्शन, अनुद्वेगकराः—शान्त, सत्वचः—छाल से युक्त।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारियों के वे सभी दण्ड सीधे, बिना कटे हुए, देखने में सुन्दर, मनुष्यों के लिए भय न उत्पन्न करने वाले, छाल से युक्त और बिना जले हुए होने चाहिए।

संस्कृत व्याख्या—ते सर्वे तु—प्रोक्ताः सकलाः दण्डाः, ऋजवः—सरलाः, अव्रणाः—अक्षताः, सौम्यदर्शनाः—शोभनाकाराः अभयप्रदाः इत्यर्थः, नृणां—जनानां, अनुद्वेगकराः—उद्वेगं न कुर्वन्ति ये ते, सत्वचः—वल्कलेन सहिताः, अनग्निदूषिताः—न अग्निना दूषिताः, अदग्धाः; स्युः—भवेयुः।

विशेष—दण्ड के इस आकार-प्रकार का समर्थन सूत्र ग्रन्थ इन शब्दों में करते हैं—

'अपीडिता यूपवक्राः सशल्काः इति'।

—गौतम धर्मसूत्र

भिक्षा विधान—

प्रतिगृह्येप्सितं दण्डमुपस्थाय च भास्करम्।
प्रदक्षिणं परीत्याग्नि चरेद् भैक्षं यथाविधि ॥४८॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) ईप्सितं दण्डं प्रतिगृह्य, भास्करं उपस्थाय, अग्निं प्रदक्षिणं परीत्य च यथाविधि भैक्षं चरेत्।

शब्दार्थ—भास्करं—सूर्य को, उपस्थाय—उपासना करके, परीत्य—चारों ओर घूम करके।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी अपने वर्ण एवं शास्त्र के अनुरूप ईप्सित दण्ड को ग्रहण कर, सूर्याभिमुख खड़े होकर, प्रदक्षिणा विधि से अग्नि की परिक्रमा सम्पन्न कर, शास्त्रोक्त विधिपूर्वक भिक्षाचरण करे।

संस्कृत व्याख्या—(ब्रह्मचारी), ईप्सितं—इष्टं, दण्डं—यष्टिकां, प्रतिगृह्य—धारयित्वा, भास्करं—आदित्यं, उपस्थाय—वैदिकमन्त्रपूर्वकं स्थित्वा, अग्निं—पावकं, प्रदक्षिणं—परिक्रमां, परीत्य—सम्पाद्य, यथाविधि—शास्त्रसम्मतं, भैक्षं—भिक्षावृत्तिं, चरेत्—कुर्यात्।

विशेष—उपस्थाय—देवताओं का पूजन-अर्चन जीवन तथा प्रकाश की प्रशस्ति के लिए सर्वोत्तम उपाय था।

यथाविधि—आगे बताए गए नियमों के अनुसार। प्रस्तुत स्थल पर केवल उपनयन संस्कार सम्बन्धी भिक्षाविधि कही है। सामान्य अथवा नित्य भिक्षाविधि मनुस्मृति, २.१८३-१८४ में वर्णित होगी।

भिक्षा विधि—

भवत्पूर्वं चरेद् भैक्षमुपनीतो द्विजोत्तमः।
भवन्मध्यं तु राजन्यो वैश्यस्तु भवदुत्तरम् ॥४९॥

अन्वय—उपनीतः द्विजोत्तमः भवत्पूर्वं भैक्षं चरेत्, राजन्यः तु भवन्मध्यं, वैश्यः तु भवदुत्तरम् (भैक्षं चरेत्)।

शब्दार्थ—उपवीतः—यज्ञोपवीत से युक्त, भवत्पूर्वं—भवत् शब्द का पूर्व में प्रयोग करके।

हिन्दी अर्थ—यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचारी 'भवत्' शब्द का उच्चारण वाक्य के पूर्व भाग में—'भवति भिक्षां देहि', क्षत्रिय ब्रह्मचारी 'भवत्' शब्द का उच्चारण वाक्य के मध्य भाग में 'भिक्षां भवति देहि' तथा वैश्य ब्रह्मचारी भवत् शब्द का उच्चारण वाक्य के अन्त भाग में 'भिक्षां देहि भवति' करके भिक्षा याचना करे।

संस्कृत व्याख्या—उपनीतः—यज्ञोपवीतेन संस्कृतः, द्विजोत्तमः—ब्राह्मणवटुः, भवत्पूर्वं—भवच्छब्दः पूर्वं यस्मिन् तत् 'भवति भिक्षां देहीति' रूपेण भवच्छब्दं वचनाग्रमुच्चार्य; राजन्यः तु, भवन्मध्यं—भवच्छब्दः मध्ये यस्मिन् तत्, 'भिक्षां भवति देहीति' रूपेण भवच्छब्दं वचनमध्यमुच्चार्य; वैश्यः तु, भवदुत्तरं—भवच्छब्दः उत्तरे अन्ते यस्मिन् तत्, 'भिक्षां देहि भवतीति' रूपेण भवच्छब्दं वचनान्तमुच्चार्य; भैक्षं चरेत्—भिक्षाम् आचरेत्।

विशेष—भैक्षम्—भिक्षाचरण द्वारा विद्यार्थी के मन पर यह अङ्कित करने का प्रयास किया जाता था कि ब्रह्मचर्य आश्रम में पारिवारिक प्रतिष्ठा का कोई

महत्व नहीं, सब समान हैं और प्रत्येक को निरभिमानी भाव से समाज पर आश्रित रह कर, धन-सम्पत्ति के प्रति निर्लोभी रह कर, विद्यार्जन करना है। यह प्राचीन परम्परा उपनयन संस्कार में आज भी सम्पन्न होती है।

भिक्षा की ग्राह्यता—

मातरं वा स्वसारं वा मातुर्वा भगिनीं निजाम्।
भिक्षेत भिक्षां प्रथमं या चैनं नावमानयेत् ॥५०॥

अन्वय—प्रथमं निजां मातरं वा स्वसारं वा मातुः भगिनीं वा या च एनं न अवमानयेत् भिक्षां भिक्षेत।

शब्दार्थ—स्वसारं—बहिन, भगिनीं—बहिन, अवमानयेत्—अपमान करे।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी सर्वप्रथम अपनी माँ से, बहिन से, माँ की बहिन अर्थात् मौसी से अथवा जो उसका अपमान न करे, उससे भिक्षा माँगे।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, प्रथमं—आदौ, निजां—स्वकीयां, मातरं—जननीं, वा, स्वसारं—भगिनीं, वा, मातुः भगिनीं—जनन्याः सहोदरां, वा, या च एनं—ब्रह्मचारिणं, न, अवमानयेत्—प्रत्याख्यानेन तिरस्कारयेत्, भिक्षां भिक्षेत—भिक्षाचरणं कुर्यात्।

विशेष—भिक्षाम्—प्रथम भिक्षा स्त्री से माँगे। स्त्री से भिक्षा याचना करते समय 'भवत्' शब्द के स्त्रीलिंग सम्बोधन का एकवचन रूप 'भवति' प्रयोग करना चाहिए। एक शंका है कि स्त्रियाँ संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ होती हैं, अतः उन्हें संस्कृत शब्दों से सम्बोधित करना व्यर्थ है। इसका समाधान यह है कि स्त्रियाँ अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग तो करती ही हैं, इन शुद्ध शब्दों से अशुद्ध शब्द का सादृश्य होने के कारण शुद्ध शब्दों से अर्थ ग्रहण कर ही लेती हैं।

गुरुकुल में भिक्षा माँगना निषिद्ध है किन्तु पिता के आचार्य होने पर, आचार्य-पत्नी अर्थात् स्वमाता तथा अन्य स्त्रियों से भिक्षा माँगी जा सकती है।

अवमानयेत्—भिक्षाचरण में तिरस्कार के फलस्वरूप सत्कार्यों से उत्पन्न गुण, यज्ञादि से उत्पन्न पुण्य, सन्तान, पशु, आध्यात्मिक यश आदि का नाश हो जाता है। —धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, भाग १

भिक्षा उपयोग—

समाहृत्य तु तद् भैक्षं यावदन्नममायया।
निवेद्य गुरवेऽश्नीयादाचम्य प्राङ्मुखः शुचिः ॥५१॥

अन्वय—तद् भैक्षं तु समाहृत्य, यावदन्नम् अमायया गुरवे निवेद्य, (पश्चात् तदाज्ञया) आचम्य, शुचिः प्राङ्मुखः अश्नीयात्।

शब्दार्थ—समाहृत्य—एकत्र करके, अमायया—लोभ रहित भाव से, प्राङ्मुखः—पूर्वाभिमुख होकर, अश्नीयात्—खाए।

हिन्दी अर्थ—उस भिक्षा में मिले हुए यथावश्यक अन्न को लाकर, निष्कपट भाव से गुरु के प्रति निवेदित कर, (गुरु की आज्ञा पाकर) आचमन कर, शुचितापूर्वक पूर्वाभिमुख होकर खाए।

संस्कृत व्याख्या—तद् भैक्षं—भिक्षायाः समूहं, तु, समाहृत्य—आनीय, यावदन्नं—तृप्तिमात्रोचितं भोज्यपदार्थं, अमायया—निष्कपटभावेन (उत्कृष्ट-पदार्थान्गोपयित्वा निकृष्टपदार्थानर्पयित्वा), गुरवे—आचार्यं प्रति, निवेद्य—समर्प्य, आचम्य—उपस्पृश्य, शुचिः—पवित्रः सन्, प्राङ्मुखः—पूर्वाभिमुखः, अश्नीयात्—भुञ्जीत।

विशेष—तद् भैक्षम्—तद् पद सामीप्य सम्बन्ध से उस (नित्य) भिक्षा का द्योतक है, इस (उपनयनकालिक) भिक्षा का नहीं। भैक्ष भोजन उपनयन का अंग नहीं है। उपनयन के विषय में गृह्यसूत्रों में नियम है—'अनुप्रवचनीयं श्रपयेत्'—माँगे हुए भोजन को माणवक पकाए (खाए नहीं)। हल्के भोजन के पश्चात् उपनयन किया जाता था, शेष दिन कुछ खाने का विधान नहीं था—'तिष्ठेदहःशेषम्'।

गुरवे निवेद्य—भिक्षाचरण केवल अपनी उदरपूर्ति के लिए नहीं, गुरु तथा गुरुपरिवार के भरण-पोषण के लिए भी आवश्यक था।

बालक भिक्षा ला कर गुरु को देता है, कहता है, 'यह भिक्षा है।' गुरु ग्रहण करता है, 'यह अच्छी भिक्षा है'—'तत्समाहृत्याचार्याय प्राह भैक्षमिदमिति। तत्सुभैक्ष-मितीतरः प्रतिगृह्णाति'—बौधायन गृह्यसूत्र, २.५.५२, ५३।

शुचिः—पवित्रता के लिए आचमन के पश्चात् अपवित्र स्थान गमन, चांडाल दर्शन आदि निषिद्ध हैं।

काम्य भोजन फल—

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुङ्क्ते यशस्यं दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखो भुङ्क्ते ऋतं भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः ॥५२॥

अन्वय—प्राङ्मुखः आयुष्यं भुङ्क्ते, दक्षिणामुखः यशस्यं (भुङ्क्ते,) प्रत्यङ्मुखः श्रियं भुङ्क्ते, उदङ्मुखः हि ऋतं भुङ्क्ते।

शब्दार्थ—भुङ्क्ते—भोग करता है, प्रत्यङ्मुखः—पश्चिमाभिमुख, उदङ्मुखः—उत्तराभिमुख।

हिन्दी अर्थ—आयु का इच्छुक पूर्व दिशा की ओर, यशस्कामी दक्षिणदिशा की ओर, ऐश्वर्याभिलाषी पश्चिम दिशा की ओर एवं सत्य का आकांक्षी उत्तर दिशा की ओर मुख करके (उस भिक्षान्न का) भोजन करे।

संस्कृत व्याख्या—प्राङ्मुखः—पूर्वाभिमुखः, आयुष्यं—आयुषे हितं, दीर्घजीवनम् इच्छन्, भुङ्क्ते दक्षिणामुखः—अवाङ्मुखः, यशस्यं—यशसे हितं, यशोलाभाय, भुङ्क्ते प्रत्यङ्मुखः—पश्चिमाभिमुखः, श्रियं—वैभवं कामयन्, भुङ्क्ते उदङ्मुखः—उत्तराभिमुखः, हि, ऋतं—सत्यम् अभिलषन्, भुङ्क्ते—अत्ति ।

विशेष—प्राङ्मुखः—पूर्व तथा प्रस्तुत श्लोक के अनुसार पूर्व दिशा दो अधिकार बताती है—(१) नित्य—निष्काम व्यक्ति पूर्व दिशा की ओर मुख करके भोजन करे। (२) काम्य—आयु का इच्छुक पूर्व दिशा की ओर मुख करके भोजन करे। शेष तीनों दिशाओं में केवल काम्य विधि वर्णित है।

ऋत—शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त है—सत्य, यज्ञ, स्वर्ग एवं विश्व के शाश्वत नियम।

[सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं स्मृतिनोदितम् ।
नान्तरा भोजनं कुर्यादग्निहोत्रसमो विधिः ॥६॥]

स्मृतिग्रन्थों में द्विज को केवल सायं-प्रातः भोजन करने का विधान है। मध्यकाल में (अर्थात् तीन बार) भोजन नहीं करना चाहिए। यह विधान अग्निहोत्र के समान (पुण्यप्रद) है।

आचमन विधान—

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात्समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥५३॥

अन्वय—द्विजः नित्यम् उपस्पृश्य समाहितः अन्नम् अद्यात्। भुक्त्वा च अद्भिः सम्यक् उपस्पृशेत्, खानि च संस्पृशेत्।

शब्दार्थ—उपस्पृश्य—आचमन करके, समाहितः—एकाग्रचित होकर, खानि—इन्द्रियों को।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण नित्य आचमन कर एकाग्रचित्त होकर भोजन करे, भोजन करके जल से पुनः भली-भाँति आचमन करे और इन्द्रियों (आँख, कान, नाक, मुख) का स्पर्श करे।

संस्कृत व्याख्या—द्विजः—द्विजन्मा, नित्यं—सर्वदा, आजीवनं, उपस्पृश्य—भोजनात्प्रागाचमनं कृत्वा, समाहितः—दत्तचित्तः सन्, अन्नं—भक्ष्यपदार्थं, अद्यात्—अश्नीयात्, भुक्त्वा—भोजनं कृत्वा, च, अद्भिः—जलैः, सम्यक्—समुचितरूपेण, उपस्पृशेत्—आचामेत, खानि—घ्राणचक्षुःश्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि, च, संस्पृशेत्—जलेन सम्यक्रूपेण स्पर्शं कुर्यात्।

विशेष—उपस्पृश्य—आचमन तथा भोजन क्रिया के मध्य व्यवधान नहीं होना

चाहिए। यह आचमन पञ्चार्द्रता (पाँच अंग—दो हाथ, दो पैर, एक मुख गीला कर) रूप होना चाहिए।

महर्षि दक्ष के अनुसार हाथ-पैर का प्रक्षालन एवं तीन बार स्वच्छ जल का पान—यह आचमन विधि है—'प्रक्षाल्य हस्तौ पादौ च त्रिः पिबेदम्बु वीक्षितम्'—दक्ष संहिता, २.१४।

अन्न अभिनन्दन—

पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
दृष्ट्वा हृष्येत्प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः ॥५४॥

अन्वय—अशनं नित्यं पूजयेत् एतद् च अकुत्सयन् अद्यात् (एतत्) दृष्ट्वा हृष्येत्, प्रसीदेत् च सर्वशः प्रतिनन्देत् च।

शब्दार्थ—अशनं—भोजन को, अकुत्सयन्—दोष न खोजते हुए, हृष्येत्—हर्षित हो, प्रतिनन्देत्—अभिनन्दन करे।

हिन्दी अर्थ—भोज्य पदार्थ को प्रतिदिन आदर की दृष्टि से देखे, उसकी निन्दा न करते हुये भक्षण करे, देखकर सन्तुष्टि तथा प्रसन्नता का भाव रखे, 'मुझे यह अन्न सर्वदा उपलब्ध हो' इस प्रकार सदा उसका अभिनन्दन करे।

संस्कृत व्याख्या—अशनं—भोजनं, नित्यं—सर्वदा, पूजयेत्—इदं प्राणार्थम् इति अर्चेत, एतत्—अन्नं, च, अकुत्सयन्—अनिन्दन्, अद्यात्—अन्नं गृह्णीयात्, एतत्, दृष्ट्वा—भोजनकाले अशनम् अवलोक्य, हृष्येत्—मनसि सन्तुष्येत्, प्रसीदेत्—प्रसन्नभावं धारयेत्, सर्वशः—सर्वप्रकारेण, प्रतिनन्देत्—अभिनन्देत्, 'एतदन्नं नित्यं मे उपलभेत्' अनेन भावेन धारयेत्।

विशेष—पूजयेत्—प्राणि की प्राणरक्षा का माध्यम होने से अन्न का दर्शन, नमस्कार एवं स्तुतिपूर्वक भोजन ग्रहण करना ही पूजा है, अतः भोजन को देवतावत् माने। आदित्यपुराण अञ्जलि बाँध कर सिर झुका कर स्तुति के पश्चात् ही भोजन ग्रहण का आदेश देता है—

'अन्नं दृष्ट्वा प्रणम्यादौ प्राञ्जलिः कथयेत्ततः।
अस्माकं नित्यमस्त्वेतदिति भक्त्या स्तुवन्नमेत्' ॥

अकुत्सयन्—भोजन गरिष्ठ है, लघु है, अरुचिकर है, अभक्ष्य है—इस प्रकार न कहे। यदि वास्तव में अखाद्य है तो नहीं खाए—मेधातिथि।

अभिनन्दित एवं तिरस्कृत अन्न का फल—

पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम् ॥५५॥

अन्वय—पूजितम् अशनं हि नित्यं बलं ऊर्जं च यच्छति, तु तद् अपूजितं भुक्तम् इदम् उभयं नाशयेत् ।

शब्दार्थ—ऊर्जं—क्रियाशीलता को, यच्छति—प्रदान करता है, भुक्तं—खाया हुआ ।

हिन्दी अर्थ—अभिनन्दित अन्न निश्चय ही शक्ति और वीर्य प्रदान करता है किन्तु तिरस्कृत अन्न के भोजन से इन दोनों का नाश होता है ।

संस्कृत व्याख्या—पूजितं—समर्चितं, अशनं—भोजनं, हि—निश्चयेन, नित्यं—प्रतिदिवसं, बलं—सामर्थ्यं, ऊर्जं—क्रियाशीलतां, च, यच्छति—ददाति, वर्धयति, तु तत्, अपूजितं—विगर्हितम् अन्नं, भुक्तं—गृहीतं, इदमुभयं—एतद्द्वयं, शक्तिवीर्ये; नाशयेत्—विनष्टं कुर्यात् ।

विशेष—पूजितम् अशनम्—भोज्य पदार्थ के रूप में जो भी सामग्री उपलब्ध हो, उसे प्रसन्न मन, एकाग्र चित्त व धीमी गति से ग्रहण करें तो पाचनतन्त्र पर अधिक भार नहीं पड़ेगा । सात्त्विक भोजन स्वास्थ्य रक्षा, आयुवर्धन, शक्ति विकास आदि दृष्टियों से लाभकारी है—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, १७.८

उच्छिष्ट निषेध—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यान्नाद्याच्चैव तथान्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्न चोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥५६॥

अन्वय—उच्छिष्टं कस्यचित् न दद्यात्, तथा अन्तरा न अद्यात् । अत्यशनं च एव न कुर्यात्, उच्छिष्टः क्वचित् न व्रजेत् ।

शब्दार्थ—उच्छिष्टं—जूठा, अद्यात्—खाए, अत्यशनं—भूख से अधिक ।

हिन्दी अर्थ—उच्छिष्ट अर्थात् जूठा, भोजन किसी को (खाने के लिए) न दे, प्रातः और सायंकाल के अतिरिक्त मध्य में भोजन न करे, अत्यधिक भोजन भी न करे और (बिना आचमन किए) जूठे मुख से कहीं न जाए ।

संस्कृत व्याख्या—उच्छिष्टं—भुक्तावशेषं, कस्यचित्—कस्मैचित् न, दद्यात्—प्रदेयं, तथा, अन्तरा—दिवासायंभोजनयोः मध्ये, न, अद्यात्—अश्नीयात्, केवलं द्विवारं अन्नं गृह्णीयात् इत्यर्थः, अत्यशनं—आवश्यकताधिकं, च एव न, कुर्यात्—भुञ्जीत, उच्छिष्टः—भोजनान्ते आचमनरहितमुखः, क्वचित्—कुत्रचित्, न, व्रजेत्—विचरेत् ।

विशेष—उच्छिष्टम्—पात्र में रखा भोजन मुख में प्रथम बार रखते ही

उच्छिष्ट हो जाता है। महर्षि मनु का आदेश है कि उच्छिष्ट अन्न शूद्र को भी न दे—'न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं'—मनुस्मृति, ४.८०। वे प्राणी (कुत्ता, बिल्ली आदि) जो उच्छिष्ट तथा अनुच्छिष्ट का भेद करने में असमर्थ हैं, उच्छिष्ट उन्हें भी नहीं देना चाहिए।

अन्तरा—पद निम्न तीन अर्थों को अभिव्यक्त कर रहा है—(१) मध्य—भोजन केवल दो कालों में करे—प्रातः तथा सायं, मध्य में ग्रहण नहीं करे। (२) व्यवधान—भोजन करते समय किसी व्यवधान के कारण भोजन छोड़ देने पर पुनः उसी पात्र में भोजन ग्रहण नहीं करे। (३) विच्छेद—बाएँ हाथ से पात्र को पकड़ कर दाहिने हाथ से भोजन किया जाता है। किसी कारणवश बायाँ हाथ पात्र से हटा लेने पर भोजन नहीं करे—मेधातिथि।

अत्यशनम्—भोजन की मात्रा निर्धारित करते हुए मुनि के आठ ग्रास, अरण्यवासी के सोलह ग्रास, गृहस्थ के बत्तीस ग्रास तथा ब्रह्मचारी के यथेष्ट ग्रास कहे गए हैं। ब्रह्मचारी के लिए ग्रास की संख्या नहीं बताई गई है तथापि जितने से उसका पेट भरे केवल उतना खाए। उदर के तीन भाग हैं—आधा भाग अन्न से, आधे का एक भाग पानी से तथा एक भाग वायु संचरण के लिए खाली रखना चाहिए—यही निरोगता का मन्त्र है।

अति भोजन दोष—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥५७॥

अन्वय—अतिभोजनम् अनारोग्यम् अनायुष्यम् अस्वर्ग्यम् अपुण्यं लोकविद्विष्टं च, तस्मात् तत् परिवर्जयेत्।

शब्दार्थ—अनारोग्यं—स्वास्थ्य, अनायुष्यं—आयुनाशक, लोकविद्विष्टं—लोकनिन्दित।

हिन्दी अर्थ—अधिक भोजन आरोग्य, दीर्घायु, स्वर्ग और पुण्य में बाधक एवं लोकनिन्दित है अतः उस प्रवृत्ति को छोड़ देना चाहिए।

संस्कृत व्याख्या—अतिभोजनं—आवश्यकताधिकान्नग्रहणं, अनारोग्यं—अस्वास्थ्यकारणं, अनायुष्यं—जीवितकालनाशकं, अजीर्णतायाः रोगमृत्युकारणमिति भावः; अस्वर्ग्यं—यागाद्यभावे स्वर्गप्राप्तौ बाधकं, अपुण्यं—पापवृत्तिवर्धकं, लोकविद्विष्टं—लोकैः परिचितजनैः विद्विष्टं निन्दितं, तस्मात्—अतः, तत्—बहुभोजनं, परिवर्जयेत्—कदापि न कुर्यात्।

विशेष—वेद के एक मन्त्र में उस आहार का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है जो सर्वसुलभ और सुपाच्य है, जो पितरों को समर्पित करके ग्रहणीय है—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् ।
स्वधास्थ तर्पयत मे पितृन् ।।

—वाजसनेयि यजुर्वेद, २:३४

आचमन तीर्थ—

ब्राह्मेण विप्रस्तीर्थेन नित्यकालमुपस्पृशेत् ।
कायत्रैदशिकाभ्यां वा न पित्र्येण कदाचन ।।५८।।

अन्वय—विप्रः ब्राह्मेण तीर्थेन कायत्रैदशिकाभ्यां वा नित्यकालम् उपस्पृशेत्, पित्र्येण कदाचन न ।

शब्दार्थ—ब्राह्मेण—ब्रह्म सम्बन्धी, काय—प्रजापति सम्बन्धी, त्रैदशिक—देव सम्बन्धी, पित्र्येण—पितृ सम्बन्धी ।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण ब्राह्म तीर्थ, प्रजापति तीर्थ अथवा देव तीर्थ से सदा आचमन करे, पितृ तीर्थ से कदापि आचमन न करे ।

संस्कृत व्याख्या—विप्रः—ब्राह्मणः, ब्राह्मेण—ब्रह्मणः इदं ब्राह्मं तेन, ब्राह्मसंज्ञकेन; तीर्थेन—पुण्यस्थानेन, कायत्रैदशिकाभ्यां—कः प्रजापतिः, तस्य इदं, कायं, त्रैदशिकं—त्रिदशाः देवाः तेषामिदं त्रैदशिकं, कायत्रैदशिके, ताभ्यां, कायत्रैदशिकाभ्यां, प्राजापत्यदैवतीर्थाभ्यां; वा, नित्य कालं—सर्वदा, उपस्पृशेत्—आचामेत्, पित्र्येण—पितुः इदं पित्र्यं, तेन, पितृतीर्थेन; कदाचन—कदापि, न, आचमनं कुर्यात् ।

विशेष—तीर्थ—पावनता गुण सूचित करने के लिए प्रयुक्त तीर्थ शब्द निम्न अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) उद्धारक, (२) पाप मुक्तिदायक, (३) सरोवर की सीढ़ियाँ, (४) जल को धारण करने वाला करतल का अंश—यहाँ चतुर्थ अर्थ अभिप्रेत है ।

त्रैदशिक—त्रिदश—देवता अर्थ में अण् प्रत्यय तथा स्वार्थ में क प्रत्यय लग कर त्रैदशिक शब्द निष्पन्न हुआ ।

पित्र्येण—जलतर्पण आदि पितृकार्य करतल के इसी भाग से सम्पन्न होते हैं अतः ब्राह्म तीर्थ में घाव, फुंसी इत्यादि होने पर पितृतीर्थ से आचमन न करे । आचमन का विधान केवल ब्राह्मण के लिए नहीं, प्रत्येक वर्ण के लिए है ।

तीर्थ अभिज्ञान—

अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते ।
कायमङ्गुलिमूलेऽग्रे दैवं पित्र्यं तयोरधः ।।५९।।

अन्वय—अङ्गुष्ठमूलस्य तले ब्राह्मं तीर्थं प्रचक्षते, अङ्गुलिमूले कायं अग्रे दैवं तयोः अधः पित्र्यं (प्रचक्षते) ।

शब्दार्थ—तले—हथेली में, मूले—जड़ में, प्रचक्षते—कहा जाता है ।

हिन्दी अर्थ—हाथ के अंगूठे के मूल के नीचे ब्राह्मतीर्थ, कनिष्ठिका अंगुलि के मूल में प्रजापति तीर्थ, अंगुलियों के अग्रभाग में दैवतीर्थ और अंगूठे तथा तर्जनी के मध्य में पितृतीर्थ कहा जाता है ।

संस्कृत व्याख्या—अङ्गुष्ठमूलस्य—अङ्गुष्ठस्य मूलं तस्य, तले—अधोभागे, ब्राह्मं—एतदाख्यं, तीर्थं—पवित्रस्थलं, प्रचक्षते—कथ्यंते, अङ्गुलिमूले—कनिष्ठिकामूले, कायं—प्रजापतेः तीर्थं, अग्रे—नखसमीपे, दैवं—देवानां तीर्थं, तयोः—अङ्गुष्ठप्रदेशिन्योः, अधः—निम्ने, पित्र्यं—पितृतीर्थं, प्रचक्षते ।

विशेष—अंगुलि—कौन सी अंगुलि हो ? कुछ विद्वान् तर्जनी, कुछ कनिष्ठिका तथा कुछ चारों अंगुलियों को बताते हैं । कौन सा हाथ हो ? अधिकांश टीकाकार इस विषय में मौन हैं तथापि दाहिने हाथ को ग्रहण किया जाता है । प्रायः स्मृतियाँ मणिबन्ध (कलाई) तक हस्त प्रक्षालन का विधान करती हैं ।

तीर्थों के इन नामों का समर्थन अन्य स्मृतिग्रथों में भी समान भाषा में उपलब्ध है—

'कनिष्ठादेशिन्यङ्गुष्ठमूलान्यग्रं करस्य च ।
प्रजापतिपितृब्रह्मदेवतीर्थान्यनुक्रमात्' ॥

याज्ञवल्क्य स्मृति, १.१९

आचमन विधि—

त्रिराचामेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम् ।
खानि चैव स्पृशेदद्भिरात्मानं शिर एव च ॥६०॥

अन्वय—पूर्वम् अपः त्रिः आचामेत्, ततः द्विः मुखं प्रमृज्यात्, अद्भिः खानि च एव आत्मानं शिरः एव च स्पृशेत् ।

शब्दार्थ—मुखं—मुख छिद्र को, प्रमृज्यात्—पोंछे, अद्भिः—जल से, आत्मानं—हृदय को, स्पृशेत्—स्पर्श करे ।

हिन्दी अर्थ—सर्वप्रथम जल से (ब्राह्म आदि तीर्थ से) तीन बार आचमन करे, तत्पश्चात् दो बार मुख प्रक्षालन करे, जल से चक्षु, कर्ण, नासिकादि इन्द्रियों, हृदय तथा शिर को सम्मार्जित करे ।

संस्कृत व्याख्या—पूर्वं—प्रथमं, अपः—जलानि, त्रिः—वारत्रयं, आचामेत—गण्डूषपं पिबेत्, ततः—अनन्तरं, द्विः—वारद्वयं, मुखं—अधरोष्ठं, प्रमृज्यात्—प्रोञ्छेत्, अद्भिः—जलेन, खानि—इन्द्रियाणि च एव, आत्मानं—हृदयं, शिरः—ललाटं, एव च, स्पृशेत्—प्रक्षालयेत् ।

विशेष—अस्पृश्य—मुख प्रक्षालन करते समय ओष्ठ व अधर बन्द रहने
ाहिए—'संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्'—दक्षसंहिता।

आत्मानम्—हृदय—'हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'—बृहदारण्यकोपनिषद्, ४.३.७।
भी टीकाकार हृदय अर्थ को स्वीकार करते हैं किन्तु (१) अमूर्त का स्पर्श असम्भव
, (२) आत्मा तो सर्वत्र व्याप्त है। ऋषियों ने हृदय में आत्मा का दर्शन किया,
तः हृदय स्पृश्य कहा गया।

ाचमन अनिवार्यता—

अनुष्णाभिरफेनाभिरद्भिस्तीर्थेन धर्मवित्।
शौचेप्सुः सर्वदाचामेदेकान्ते प्रागुदङ्मुखः ॥६१॥

अन्वय—धर्मवित् शौचेप्सुः एकान्ते प्राक् उदङ्मुखः अनुष्णाभिः अफेनाभिः
द्भिः तीर्थेन सर्वदा आचामेत्।

शब्दार्थ—शौचेप्सु—पवित्रता का इच्छुक, प्राक्—पूर्व, उदङ्—उत्तर,
नुष्णाभिः—बिना उबले हुए, अफेनाभिः—बुलबुले रहित।

हिन्दी अर्थ—पवित्रता का इच्छुक धर्मात्मा पुरुष (भोजन के पश्चात्) जनशून्य
ान में पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख अथवा पूर्वोत्तराभिमुख (ईशान कोणीय) होकर
तल और स्वच्छ जल से, ब्राह्मतीर्थादि अंगुलियों से सर्वदा आचमन करे।

संस्कृत व्याख्या—धर्मवित्—धर्मं वेत्तीति, धर्मज्ञः; शौचेप्सुः—शौचमिच्छति,
ति—पावित्र्यमिच्छन्, एकान्ते—जनशून्यस्थाने, प्राक्—प्राचि, उदङ्मुख—उदीचि
मुखं यस्य, पूर्वाभिमुखः उत्तराभिमुखो वा; अनुष्णाभिः—शीतलैः, अफेनाभिः—
नरहिताभिः बुद्बुदैः हीनाभिः; अद्भिः—जलैः, तीर्थेन—ब्राह्मप्राजापत्यादितीर्थेन,
र्वदा—आजीवनं, आचामेत्—आचमनं कुर्यात्।

ाचमन जल परिमाण—

हृद्गाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः।
वैश्योऽद्भिः प्राशिताभिस्तु शूद्रः स्पृष्टाभिरन्ततः ॥६२॥

अन्वय—विप्रः हृद्गाभिः, भूमिपः तु कण्ठगाभिः, वैश्यः तु प्राशिताभिः,
द्रः अन्ततः स्पृष्टाभिः अद्भिः पूयते।

शब्दार्थ—हृद्गाभिः—हृदय तक गए हुए, प्राशिताभिः—मुख तक गए हुए,
ष्टाभिः—ओंठ तक गए हुए, पूयते—पवित्र हो जाता है।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण हृदय तक, क्षत्रिय कण्ठ तक, वैश्य मुख तक तथा शूद्र
ठ तक आचमन का जल पीने से पवित्र हो जाता है।

संस्कृत व्याख्या—विप्रः—ब्राह्मणः, हृद्गाभिः—हृदयं गच्छन्तीति हृद्गाः,

ताभिः, चित्तं प्राशाभिः; भूमिपः—भूमिं पातीति, राजन्यः, तु, कण्ठगाभिः—गलप्रदे
गताभिः, वैश्यः, तु, प्राशिताभिः—आस्यं गताभिः, शूद्रः, अन्ततः—ओष्ठान्तेनाि
अद्भिः—जलैः, पूयते—पवित्रो भवति ।

विशेष—महर्षि याज्ञवल्क्य तीनों वर्णों के लिए जल की मात्रा—'हृत्कण्ठतालुगाभिः' तथा शूद्र के लिए एक बार जल स्पर्श—'सकृत्स्पृष्टाभिरन्तत का नियम देते हैं ।

—याज्ञवल्क्य स्मृति, १

उपवीती आदि के लक्षण—

उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः ।
सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने ॥६३॥

अन्वय—द्विजः दक्षिणे पाणौ उद्धृते उपवीती, सव्ये प्राचीन आवी कण्ठसज्जने निवीती इति उच्यते ।

शब्दार्थ—पाणौ—हाथ में, उद्धृते—उठाने पर, सव्ये—बाएँ, कण्ठसज्जने कण्ठ में पहने गए ।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण दाहिना हाथ उठा कर पहने गए (बाएँ कन्धे के उ से दाहिने ओर तक लटकते हुए) यज्ञोपवीत से 'उपवीती', बायाँ हाथ उठा पहने गए (दाएँ कन्धे के उपर से बाईं ओर लटकते हुए) यज्ञोपवीत से 'प्रा आवीती' और कण्ठ में (माला के समान लटकते हुए) पहने गए यज्ञोपवीत 'निवीती' कहलाता है ।

संस्कृत व्याख्या—द्विजः—द्विजन्मा, दक्षिणे—सत्येतरे, पाणौ— उद्धृते—ऊर्ध्वगते, (वामस्कन्धस्थापिते दक्षिणपार्श्वावलम्बिते यज्ञसूत्रे) 'उपवीत सव्ये—वामे, (दक्षिणस्कन्धस्थापिते वामपार्श्वावलम्बिते यज्ञोपवीते) 'प्राचीनावी कण्ठसज्जने—कण्ठे सज्जने, (शिरोऽवधारणे गलावलम्बिते) 'निवीती', इति उच्यते कथ्यते ।

विशेष—ब्राह्मण देवताओं के लिए आहुति देते समय 'उपवीती', पितरों लिए तर्पण करते समय प्राचीन आवीती एवं मनुष्यों के लिए कार्य सम्पादित क समय 'निवीती' होता है—'निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणामुप देवानाम्' ।

—तैत्तिरीय संहिता, २.५.

नवीन वस्तुओं की ग्रहण विधि—

मेखलामजिनं दण्डमुपवीतं कमण्डलुम् ।
अप्सु प्रास्य विनष्टानि गृह्णीयान्यानि मन्त्रवत् ॥६४॥

अन्वय—मेखलाम्, अजिनं, दण्डम्, उपवीतं, कमण्डलुम् (एतानि) विनष्टानि अप्सु प्रास्य, अन्यानि मन्त्रवत् गृह्णीत ।

शब्दार्थ—अजिन—मृगचर्म, अप्सु—जल में, प्रास्य—फेंक कर ।

हिन्दी अर्थ—मेखला, मृगचर्म, दण्ड, यज्ञोपवीत और कमण्डलु के नष्ट हो जाने पर उन्हें जल में फेंक कर मन्त्रोच्चारण पूर्वक दूसरा धारण कर लेना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या—मेखलां—रशनां, अजिनं—कृष्णमृगचर्म, दण्डं—बिल्वपलाशादिविरचितयष्टिकां, उपवीतं—यज्ञसूत्रं, कमण्डलुं—जलपात्रं, विनष्टानि—त्रुटितानि अनुपयोज्यानि वा, अप्सु—जलेषु, प्रास्य—प्रक्षिप्य, अन्यानि—नवानि, मन्त्रवत्—मन्त्रपाठपूर्वकं, गृह्णीत—धारयेत् ।

विशेष—दण्ड, मेखला एवं यज्ञोपवीत टूट जाए तो ब्रह्मचारी को प्रायश्चित्त करना चाहिए । ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर यज्ञोपवीत, दण्ड, मेखला एवं मृगचर्म को जल में त्याग देना चाहिए, प्रवाहित करते समय वारुणी ऋचा अथवा 'ओ३म्' का उच्चारण करना चाहिए—'उपवीतं च दण्डे बध्नाति । तदप्येतत् । यज्ञोपवीतदण्डं च मेखलामजिनं तथा । जुहुयादप्सु व्रते पूर्णे वारुण्यर्चा रसेन' ।

—शांखायन गृह्यसूत्र, २.३६-४१

केशान्त संस्कार—

केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः ॥६५॥

अन्वय—ब्राह्मणस्य केशान्तः षोडशे वर्षे, राजन्यबन्धोःद्वाविंशे, वैश्यस्य ततः द्व्यधिके विधीयते ।

शब्दार्थ—केशान्तः—गोदान संस्कार, ततः द्व्यधिके—चौबीसवें ।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण का केशान्त संस्कार सोलहवें वर्ष में, क्षत्रिय का बाईसवें, वैश्य का चौबीसवें वर्ष में करना विधि सम्मत है ।

संस्कृत व्याख्या—ब्राह्मणस्य—अग्रजन्मनः, केशान्तः—केशानाम् अन्तः, ब्रह्मचर्यान्ते केशश्मश्रुकर्तनं; षोडशे वर्षे, राजन्यबन्धोः—राजन्यस्य बन्धुः राजन्यबन्धुः, तस्य, क्षत्रियस्य; द्वाविंशे वर्षे, वैश्यस्य, ततः, द्व्यधिके—चतुर्विंशे वर्षे, विधीयते—विधिविधानेन क्रियते ।

विशेष—केशान्तः—केशान्त संस्कार वस्तुतः यौवन के पदार्पण का सूचक था । सभी केशों का संस्कार होने के कारण इसे केशश्मश्रुकर्म रूप कहा गया । आचार्य के प्रति गौ का दान एवं केशों का संस्कार करने के कारण इसे गोदान संस्कार भी कहा गया—'गावः केशाः दीयन्ते छिद्यन्ते यस्मिन्' ।

मन्त्रविहीन स्त्री संस्कार—

अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥६६॥

अन्वय—स्त्रीणाम् इयम् आवृत् तु अशेषतः यथाकालं यथाक्रमं शरी संस्कारार्थम् अमन्त्रिका कार्या ।

शब्दार्थ—आवृत्—संस्कार परम्परा, अशेषतः—सम्पूर्ण रूप से, यथाका यथासमय, यथाक्रमं—क्रमानुसार, अमन्त्रिका—बिना मन्त्र पाठ किए ।

हिन्दी अर्थ—स्त्रियों के संस्कार सम्पूर्ण रूप से यथोचित समय पर, यथ से, शरीर की शुद्धि के लिए मन्त्र उच्चारण के बिना करना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या—स्त्रीणां—नारीणां, इयम् आवृत्—पूर्ववर्णितसंस्काराः अशेषतः सम्पूर्णतः, यथाकालं—कालमनतिक्रम्येति, यथावसरं; यथाक्रमं—क्रमम क्रम्येति, वेदोक्तक्रमानुसारेण; शरीरस्य—देहस्य, संस्कारार्थं—दोषापक्ष अमन्त्रिका—मन्त्रैः विनैव, कार्या—कर्त्तव्या ।

विशेष—यथाकालं यथाक्रमम्—पुरुष के लिए विहित काल एवं क्रम अतिक्रमण किए बिना स्त्री के लिए भी उसी काल एवं क्रम में होना चाहिए ।

— मेध

अमन्त्रिका—केवल प्रमुख मन्त्रों के उच्चारण का निषेध है गौण का नहीं

—मीमांसा सूत्र, ३.८.३४

सूत्र काल में स्त्रियों के लिए उपनयन अनिवार्य था, वेदाध्ययन, अग्नि एवं भिक्षाटन भी वे समान रूप से करती थीं । अर्वाचीन काल में मनु के अनु इन प्रथाओं का निषेध हो चुका था । बाणभट्ट ने 'कादम्बरी' में महाश्वेता ब्रह्मसूत्रधारिणी कहा है—'ब्रह्मसूत्रेण पवित्रीकृतकायाम्' ।

स्त्री संस्कार—

वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः ।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥६७

अन्वय—स्त्रीणां वैवाहिकः विधिः वैदिकः संस्कारः स्मृतः, पतिसेवा वासः, गृहार्थः अग्निपरिक्रिया ।

शब्दार्थ—स्मृतः—कहे गए हैं, गृहार्थः—गृहकार्यनिपटाना, अग्निपरिक्रिया अग्निहोत्र ।

हिन्दी अर्थ—स्त्रियों का विवाह संस्कार ही वैदिक संस्कार, पतिसेवा गुरुकुल में वास तथा गृहकार्यों का सम्पादन ही अग्निहोत्र कर्म है ।

संस्कृत व्याख्या—स्त्रीणां—नारीणां, वैवाहिकः—विवाहे भवः, पाणि-ग्रहणसम्बन्धी; विधिः—संस्कारानुष्ठानं, वैदिकः—आनुश्रविकः, संस्कारः—शुद्धिकर्मसम्पादनं, पतिसेवा—पतिपरायणता, गुरौ वासः—वेदाध्ययनार्थं गुरुकुले वासः, गृहार्थः—गृहकृत्यव्यस्तता, अग्निपरिक्रिया—अग्निपरिचर्या, स्मृतः—कथितः ।

विशेष—पूर्व श्लोक में स्त्रियों के समस्त संस्कारों की सम्पन्नता का आदेश है। जो स्मृति के मत का अनुकरण करते हुए अपनी पुत्री का उपनयन संस्कार नहीं करता, उस कन्या का विवाह ही उपनयन संस्कार है। शेष कन्याओं के विषय में यह पक्ष असम्मत है क्योंकि समाज को उनकी दो प्रकार की जीवन शैली मान्य थी—(१) ब्रह्मवादिनी, (२) सद्योवधू। प्रथम प्रकार की कन्याओं का उपनयन, अग्न्याधान, वेदाध्ययन एवं भिक्षाचरण घर में ही सम्पन्न होने के पश्चात् युवावस्था में विवाह होता था। इन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी भी कहते थे। द्वितीय प्रकार की कन्याओं का उपनयन विवाह काल में होता था। तदनन्तर वे श्रौत-स्मार्त्त कर्मों में अधिकृत होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती थीं। इन्हें उपकुर्वाण ब्रह्मचारिणी भी कहते थे—हारीतस्मृति।

[अग्निहोत्रस्य शुश्रूषा सायमुद्वासमेव च ।
कार्यं पत्न्या प्रतिदिनमिति कर्म च वैदिकम् ॥७॥]

अग्निहोत्र की परिचर्या एवं सायं-प्रातः पति के कार्यों में सहयोग—पत्नी को यह कार्य प्रतिदिन करना चाहिए, यही उसका वैदिक धर्म है।

उपनयन संस्कार विधि समाप्ति—

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः ।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत ॥६८॥

अन्वय—द्विजातीनाम् एषः उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः औपनायनिकः विधिः प्रोक्तः, कर्मयोगं निबोधत ।

शब्दार्थ—उत्पत्तिव्यञ्जकः—द्विजत्व के बोधक, औपनायनिकः—उपनयनादि संस्कार ।

हिन्दी अर्थ—यह द्विजातियों के द्वितीय जन्म के सूचक पवित्र उपनयनादि संस्कार, विधिपर्यन्त मैंने कहे, अब उनके कर्त्तव्यों को समझिए ।

संस्कृत व्याख्या—द्विजातीनां—द्विजानां, एषः—पूर्वोक्तः, उत्पत्तिव्यञ्जकः—उत्पत्तिः व्यज्यतेऽनेनेति, द्वितीयजन्मबोधकः; पुण्यः—पुण्यप्रदः, औपनायनिकः—उपनयनादिसंस्कारः, विधिः—क्रियाकलापः, प्रोक्तः—सम्यक् रूपेण उक्तः, सम्प्रति, कर्मयोगं—कर्त्तव्यानुष्ठानं, निबोधत—अवगच्छत ।

विशेष—श्रुतिस्मृति विहित कार्यों में अधिकार प्राप्त न होने से अनुपनीत पुरुष अनुत्पन्न के समान है।

शिष्य शिक्षा—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥६९॥

अन्वय—गुरुः शिष्यम् उपनीय आदितः शौचम् आचारम् अग्निकार्यं, सन्ध्योपासनम् एव च शिक्षयेत्।

शब्दार्थ—आदितः—आरम्भ से, शौचं—पवित्रता की, आचारं—व्यवहार की।

हिन्दी अर्थ—गुरु शिष्य का उपनयन संस्कार कर उसे आरम्भ से शुद्धि की, सदाचार की, अग्निहोत्र की तथा सन्ध्योपासना की शिक्षा दे।

संस्कृत व्याख्या—गुरुः—आचार्यः, शिष्यं—अन्तेवासिनं, उपनीय—यज्ञोपवीतस्यानन्तरं, आदितः—आरम्भतः, शौचं—पवित्रतां, आचारं—व्यवहारपद्धति, अग्निकार्यं—सायम्प्रातः समिधाहरणं होमानुष्ठानं च, सन्ध्योपासनं—सान्ध्यकालीन-पूजाविधि, एव च, शिक्षयेत्—ज्ञानं दद्यात्।

विशेष—शौचम्—गायत्री मन्त्र के नियमित, विधिवत् अध्ययन के पूर्व विद्यार्थी में शुचिता का समावेश अनिवार्य था—'अशुद्धस्य सर्वत्रानाधिकारात्', अतः प्रथम शिक्षा शुचिता के विषय में आवश्यक थी।

आचारम्—आचार्य शिष्य को सम्यक् आचार सिखाने का प्रयत्न करता है—'आचार्यः आचारं ग्राहयति'।

—निरुक्त, १.४

अग्निकार्यम्—यज्ञीय अग्नि को प्रथम बार प्रदीप्त कर उसमें आहुति देने का कृत्य विद्यार्थी जीवन के साथ ही आरम्भ होता था और आजीवन अबाधित गति से चलता रहता था।

अध्यापन योग्य शिष्य—

अध्येष्यमाणस्त्वाचान्तो यथाशास्त्रमुदङ्मुखः।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यो लघुवासा जितेन्द्रियः ॥७०॥

अन्वय—अध्येष्यमाणः, तु, आचान्तः, उदङ्मुखः, ब्रह्माञ्जलिकृतः लघुवासाः जितेन्द्रियः यथाशास्त्रम् अध्याप्यः।

शब्दार्थ—अध्येष्यमाणः—अध्ययन का अभिलाषी, आचान्तः—मुख शुद्ध किए हुए, ब्रह्माञ्जलिकृतः—प्रणाम की मुद्रा धारण किए।

हिन्दी अर्थ—अध्ययन का इच्छुक, आचमन किया हुआ, उत्तराभिमुख,

ब्रह्माञ्जलिपूर्वक स्थित, अल्पवस्त्रधारी तथा जितेन्द्रिय शिष्य शास्त्रानुसार अध्यापन के योग्य है।

संस्कृत व्याख्या—अध्येष्यमाणः—अध्येतुमिच्छमाणः, अध्ययनं करिष्यमाणः; आचान्तः—कृताचमनः, उदङ्मुखः—उत्तराशाभिमुखः, ब्रह्माञ्जलिकृतः—बद्धाञ्जलिः, लघुवासाः—लघु वासः यस्य सः, अल्पवस्त्रः, कौपीनमात्राच्छादनः; जितेन्द्रियः—जितानि इन्द्रियाणि येन सः, संयमकारिणः; यथाशास्त्रं—शास्त्रादेशानुसारं, अध्याप्यः—पाठ्यः।

विशेष—लघुवासः—शब्द के अन्य अर्थ टीकाकारों ने इस प्रकार दिए हैं—स्वच्छ वस्त्र, शान्त वस्त्र, साधारण मूल्य के वस्त्र। अध्ययन काल में भारी एवं मूल्यवान् वस्त्र चित्त की एकाग्रता बाधित करेंगे और शिष्य के शरीर पर गुरु द्वारा ताडन आदि का भी प्रभाव नहीं होगा। शिष्य के नग्न देह होने पर प्रहार से अधिक चोट लगेगी अतः हल्के वस्त्र ही उचित माने गए।

ऐसा प्रमाण उपलब्ध है कि पूर्वाभिमुख स्थित होकर भी अध्ययन किया जा सकता है—'प्राङ्मुखो दक्षिणतः शिष्य उदङ्मुखो वा'। —गौतम धर्मसूत्र, १.२३

ब्रह्माञ्जलि का लक्षण—

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः॥७१॥

अन्वय—ब्रह्मारम्भे अवसाने च गुरोः पादौ सदा ग्राह्यौ, हस्तौ संहत्य अध्येयम्, हि सः ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः।

शब्दार्थ—ब्रह्मारम्भे—वेद पाठ के आरम्भ में, संहत्य—जोड़ कर।

हिन्दी अर्थ—वेदाध्ययन के प्रारम्भ तथा अन्त में गुरु के चरणों का सदा स्पर्श करे, दोनों हाथों को जोड़ कर वेदाध्ययन करे, उसे ब्रह्माञ्जलि कहते हैं।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मारम्भे—ब्रह्मणः आरम्भः तस्मिन्, वेदपाठात् पूर्वं; अवसाने—समाप्तौ, च, गुरोः—आचार्यस्य, पादौ—चरणौ, सदा—नित्यं, ग्राह्यौ—स्पृश्यौ, हस्तौ—करौ, संहृत्य—संश्लिष्य, अध्येयं—पठितव्यं, हि सः—तदेव, ब्रह्माञ्जलिः, संहतहस्तौः, स्मृतः—कथितः।

विशेष—ब्रह्मारम्भे—अध्यापन की इच्छा होने पर, वेद के प्रारम्भिक मन्त्रों का प्रथम उच्चारण प्रारम्भ करने की दृष्टि से गुरु 'अधीष्व' पद का उच्चारण करता है। इसी काल में गुरु के चरणों को ग्रहण करने का निर्देश है। यह क्रिया गुरु के चित्त की प्रसन्नता हेतु सम्पादित की जाती है।

अवसाने—प्रातः काल से आरम्भ करके दिन में निरन्तर अर्थात् किसी व्यवधान के बिना दो प्रपाठकों का अध्ययन पूर्ण करना अवसान है।

हस्तौ संहत्य—हाथ कच्छप के समान संश्लिष्ट (एक के ऊपर एक) रख कर ही अध्ययन करे। चित्त की एकाग्रता के लिए यह हस्त मुद्रा अनिवार्य है।

अध्येयम्—गुरु से अध्यापन के लिए कहना नहीं होता है, समीप बैठना ही अध्ययन की इच्छा का संकेत देना है। स्मृति में कहा गया है—'पादोपग्रहणं गुरोः प्रातरन्वहम्', क्योंकि ग्रन्थ एवं गुरु के प्रति श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्ति में समर्थ होता है—'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः'। —श्रीमद्भगवद्गीता, ४.३९

गुरु के प्रति अभिवादन विधि—

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥७२॥

अन्वय—व्यत्यस्तपाणिना, गुरोः उपसङ्ग्रहणं कार्यम्। सव्येन सव्यः दक्षिणेन च दक्षिणः (पादः) स्प्रष्टव्यः।

शब्दार्थ—व्यत्यस्तपाणिना—हाथों को परिवर्तित कर, उपसङ्ग्रहणं—चरण-वन्दना।

हिन्दी अर्थ—हाथों को परिवर्तित करके गुरु के चरणों का स्पर्श करे। बाएँ हाथ से गुरु का बायाँ चरण एवं दाहिने हाथ से गुरु के दाएँ चरण को छूना चाहिए।

संस्कृत व्याख्या—व्यत्यस्तपाणिना—व्यत्यस्तौ पाणी यस्य: सः व्यत्यस्तपाणिः, तेन, परिवर्तितहस्तेन, गुरोः—आचार्यस्य, उपसङ्ग्रहणं—चरणवन्दनं, कार्यं-कर्त्तव्यं, सव्येन—वामकरेण, सव्यः—वामचरणः, दक्षिणेन—वामेतरेण हस्तेन, दक्षिणः—दक्षिणपादः, स्प्रष्टव्य—वन्दनीयः।

विशेष—**व्यत्यस्तपाणिना**—दोनों हाथों को गुणा (= ×) की मुद्रा में गुरु के चरणों की ओर एक साथ बढ़ाए। बाएँ हाथ के ऊपर दाहिने हाथ को रखकर उत्तान हाथों से अर्थात् अंगुलियों को ऊपर की ओर कर पूरे हाथ से गुरु के चरणों का स्पर्श तो करे किन्तु चरणों को दबाए नहीं। महर्षि पैठीनसि ने भी इसी प्रकार गुरु की चरण वन्दना का निर्देश किया है—'उत्तानाभ्यां हस्ताभ्यां दक्षिणेन दक्षिणं, सव्यं सव्येन पादावभिवादयेत्'।

अध्ययन के आरम्भ एवं समापन की विधि—

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः।
अधीष्व भो इति ब्रूयाद्विरामोऽस्त्विति चारमेत् ॥७३॥

अन्वय—अतन्द्रितः (सन्) गुरुः नित्यकालम् अध्येष्यमाणं भो! अधीष्व इति ब्रूयात्, 'विरामः अस्तु' इति च आरमेत्।

शब्दार्थ—अतन्द्रितः—आलस्यरहित, अधीष्व—अध्ययन करो, आरमेत्—निबटाए।

हिन्दी अर्थ—आलस्यरहित आचार्य अध्ययन के इच्छुक शिष्य से सर्वदा (आरम्भ में), 'भो ! अधीष्व' (हे ! पढ़ो) ऐसा कहे तथा 'विरामोऽस्तु' (अध्ययन से विरत होओ) ऐसा कह कर पाठ का समापन करे।

संस्कृत व्याख्या—अतन्द्रितः—अनलसः सन्, गुरुः—आचार्यः, नित्यकालं—प्रतिदिनमध्ययनकाले, अध्येष्यमाणं—पठिष्यमाणं शिष्यं 'भो ! अधीष्व'—'हे शिष्य ! पठ' इति ब्रूयात्—एवं वदेत्, 'विरामः अस्तु—सम्प्रति समापनं भवतु, इति च आरमेत्—एवं समापयेत्।

विशेष—भोः अधीष्व—यह अध्ययन प्रारम्भ करने के लिए मानो निमन्त्रित करना है। विरामोऽस्तु—यह दो प्रपाठकों के अनन्तर अध्ययन समाप्ति का सूचक है।

कुछ टीकाकारों के अनुसार उपर्युक्त वाक्यों का गुरु मुख से आदेश रूप में उच्चारण उचित है किन्तु अन्य के अनुसार इन्हें शिष्य गुरु के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए कहता है।

आदि-अन्त में ओंकारोच्चारण विधान—

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति ॥७४॥

अन्वय—ब्रह्मणः आदौ अन्ते च सर्वदा प्रणवं कुर्यात्। पूर्वम् अनोङ्कृतं स्रवति पुरस्तात् च विशीर्यति।

शब्दार्थ—अनोङ्कृतं—ओ३म् का उच्चारण न करना, स्रवति—नष्ट होता है, विशीर्यति—विस्मृत होता है।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी वेदाध्ययन के आरम्भ तथा समाप्ति के समय सदैव ओ३म् शब्द का उच्चारण करे। वेदारम्भ में 'ओ३म्' शब्द का उच्चारण न करने से वेद का नाश होता है तथा अन्त में 'ओ३म्' का उच्चारण न करने से अधीत विद्या स्थिर नहीं होती है।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मणः—वेदपाठस्य, आदौ—आरम्भे, अन्ते—समाप्तौ, च, सर्वदा—प्रतिदिनं, प्रणवं—ओ३म् इति पदस्योच्चारणं, कुर्यात्—विदधीत, पूर्वं—आदौ, अनोङ्कृतं—ओङ्काररहितं, स्रवति—शनैः शनैः नश्यति, पुरस्तात्—पश्चात्, च, विशीर्यति—अस्थिरतां विस्मृतिं वा गच्छति।

विशेष—प्रणवम्—ओ३म् उच्चारण के अभाव में उपर्युक्त दोनों क्रियाएं अध्ययन की निष्फलता को सूचित करती हैं। शिक्षण कार्य मौखिक था, स्मरण

पर विशेष बल दिया जाता था अतः अधीत विद्या के स्मरण का पूर्ण प्रयास किया जाता था ।

ओंकार उच्चारण के योग्य ब्रह्मचारी—

प्राक्कूलान्पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः ।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति ।।७५।।

अन्वय—प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैः पावितः एव च त्रिभिः प्राणायामैः पूतः ततः ओङ्कारम् अर्हति ।

शब्दार्थ—प्राक्कूलान्—पूर्व की ओर हैं नोकें जिनकी ऐसी कुशाओं पर, पावितः—पवित्र किया गया ।

हिन्दी अर्थ—पूर्वाभिमुख बिछाए गए कुशासन पर बैठा हुआ, कुशा की पवित्री से पवित्र किया हुआ तथा तीन प्राणायामों से शुद्ध हुआ, ब्रह्मचारी ओ३म् उच्चारण के योग्य होता है ।

संस्कृत व्याख्या—प्राक्कूलान्—प्राक् कूलं येषां ते प्राक्कूलाः तान् पूर्वाग्रभागान् दर्भान्; पर्युपासीनः—अध्यारूढः, पवित्रैः—कुशरचितैः अङ्गुलीयकैः, पावितः—पवित्रीकृतः, एव च, त्रिभिः—त्रिवारैः, प्राणायामैः—स्वासप्रश्वाससंयमयौगिकक्रिया-विशेषैः, पूतः—शुद्धः, ततः—अनन्तरं, ओङ्कारं—प्रणवं, अर्हति—उच्चारणयोग्यः भवति ।

विशेष—पर्युपासीनः—परि व उप उपसर्ग निरर्थक हैं । आसीन पद का सामान्य अर्थ है—एकाग्रता पूर्वक बैठा हुआ । महर्षि पतञ्जलि ने जिस शारीरिक स्थिति से स्थिर सुख मिले, उसे आसन कहा है—'स्थिरसुखमासनम्' ।

—पातञ्जलयोगदर्शन, २.४६

पवित्रैः पावितः—दर्भों से प्राणदेश (हृदय) का स्पर्श उसे पवित्र करना है—'प्राणोपस्पर्शनं दर्भैः प्राक्कूलेष्वासनं च' । —गौतम धर्मसूत्र, १.४९.५०

प्राणायामैः—आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति अवरुद्ध करने का नाम प्राणायाम है—'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' ।

—पातञ्जललयोगदर्शन, साधनपाद, २.४९

तीन प्राणायाम पन्द्रह मात्रा में पूर्ण होते हैं—'प्राणायामास्त्रयः पञ्चदश-मात्राः' ।

—गौतम धर्मसूत्र, १.४९

प्रणव, व्याहृति एवं शिरस्क गायत्री की तीन आवृत्तियाँ, सम्पूर्ण मिलकर प्राणायाम हैं—

'प्रतिप्रणवसंयुक्तां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिर्जपेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥'

—याज्ञवल्क्य स्मृति, १.२३

ओंकार तथा व्याहृति की उत्पत्ति—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च ॥७६॥

अन्वय—प्रजापतिः अकारं च उकारम् अपि च मकारम् च (इति), भूः भुवः स्वः इति च वेदत्रयात् निरदुहत्।

शब्दार्थ—प्रजापतिः—ब्रह्मा, निरदुहत्—निकाला है।

हिन्दी अर्थ—प्रजापति ब्रह्मा ने क्रमशः अ उ म् इन (तीनों अक्षरों) को तथा भूः, भुवः, स्वः इन (तीनों महाव्याहृतियों) को वेदत्रयी (ऋग्, यजुः, साम) से स्वयं निकाला है।

संस्कृत व्याख्या—प्रजापतिः—प्रकर्षेण जायन्ते इति प्रजाः समस्ताः नित्य-पदार्थाः तेषां, प्रजानां पतिः, विधाता, अकारम्-उकारम्-मकारम् च इति ओङ्कारपदं, भूः—भुवः-स्वः इति च महाव्याहृतित्रयं, वेदत्रयात्—ऋग्यजुःसामरूपात्, निरदुहत्—उद्धृतवान्।

विशेष—ओ३म्—प्लुत के सूचनार्थ मध्य में '३' का अङ्क लिखा जाता है। गुप्त चौथी मात्रा का चिन्तन ब्रह्मज्ञानी करते हैं। समग्र वर्ण अ—कण्ठ्य स्वर और म—ओष्ठ्य व्यञ्जन के मध्य उच्चरित होते हैं अतः इसमें मानो समग्र ब्रह्माण्ड समाहित है। पवित्र एवं मांगलिक होने के कारण यज्ञ, अध्ययन, दान इत्यादि के प्रारम्भ में यह अंकित होता है। तीनों वर्णों में अकार विष्णु का, उकार महेश्वर का एवं मकार ब्रह्मा का बोधक है—

'अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः।
मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः ॥'

अ, उ, म तीनों वर्ण तीनों वेदों के तुल्य सावित्री मन्त्र के तीनों पादों से उद्धृत किए गए हैं।

भूः, भुवः, सुवः (स्वः)—तीन महाव्याहृतियाँ हैं। भूः—इस लोक, अग्नि, ऋक् तथा प्राण की द्योतक है। भुवः—अन्तरिक्ष लोक, वायु, साम एवं अपान की सूचक है। सुवः—द्युलोक, आदित्य यजुः और व्यान की निर्देशक है। इनका ज्ञान प्राप्त करने वाला ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है—'भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः।

भूरिति वा ऋचः । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूँषि । ता यो वेद । स वेद ब्रह्म । भूरिति वै प्राणः । भुव इत्यपानः । सुवरिति व्यानः ।'

—तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षाध्याय वल्ली, १-३

सावित्री की उत्पत्ति—

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः ॥७७॥

अन्वय—परमेष्ठी प्रजापतिः त्रिभ्यः एव वेदेभ्यः अस्याः 'तत्' इति ऋचः सावित्र्याः पाद पादम् अदूदुहत् ।

शब्दार्थ—परमेष्ठी—परम स्थान में रहने वाले, तदित्यृचः—'तत्' इस पद से आरम्भ होने वाली ऋचा ।

हिन्दी अर्थ—श्रेष्ठ स्थान में स्थित ब्रह्मा ने ऋग्, यजुः और साम, तीनों वेदों से त्रिपादात्मक गायत्री के तीनों पादों—('तत्सवितुर्वरेण्यं', 'भर्गो देवस्य धीमहि', 'धियो यो नः प्रचोदयात्') को निकाला है ।

संस्कृत व्याख्या—परमेष्ठी—परमे तिष्ठतीति, स्रष्टा, प्रजापतिः—ब्रह्मा, त्रिभ्यः एव वेदेभ्यः—ऋग्यजुःसामलक्षणेभ्यः, अस्या, तदित्यृचः—तत्प्रतीकादिऋचः, सावित्र्याः—सवितृदेवस्तुत्यर्थं गायत्रीछन्दोनिबद्धऋचः, पादं पादं—त्रीन् पादान्, अदूदुहत्—दुदोह ।

विशेष—सावित्र्याः—ऋग्वेद ३.६२.१० में उपलब्ध गायत्री मन्त्र सूर्योपासना हेतु प्रसिद्ध है । यह दान में ग्रहण किए हुए अन्न के दोष, पातक और उपपातक से उपासक को त्राण दिलाती है अतः गायत्री है—'गायन्तं त्रायते इति अथवा गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः'—निरुक्त, १.३ ।

सविता के वरेण्य स्वरूप से ऋग्वेद में ज्ञान, देवता की उपासना से यजुर्वेद में क्रिया एवं बुद्धि की प्रेरणा से सामवेद में आनन्द का समावेश स्वीकार किया जाता है । पद्मपुराण में गायत्री को ब्रह्मा की पत्नी कहा गया है । अर्थ इस प्रकार है—हम सविता देवता के वरेण्य स्वरूप की उपासना करते हैं । वह हमारी बुद्धि को प्रेरित करे ।

सावित्री का जप पुण्यप्रद—

एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्बिकाम् ।
संध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ॥७८॥

अन्वय—वेदवित् विप्रः सन्ध्ययोः एतत् अक्षरम् व्याहृतिपूर्बिकाम् एतां च जपन् वेदपुण्येन युज्यते ।

शब्दार्थ—सन्ध्ययोः—सन्ध्योपासना कालों में, जपन्—पुनः पुनः उच्चारण करता हुआ, युज्यते—संचित करता है।

हिन्दी अर्थ—वेदज्ञानी ब्राह्मण प्रातः सायं सन्ध्योपासन काल में इस ओ३म् अक्षर को तथा भूः, भुवः, स्वः इन तीन व्याहृतियों से युक्त गायत्री को जपता हुआ वेदाध्ययन के पुण्य फल को प्राप्त करता है।

संस्कृत व्याख्या—वेदवित्—वेदं वेत्तीति, वेदज्ञः, विप्रः—ब्राह्मणः, सन्ध्ययोः—सायम्प्रातः सन्ध्योपासनकालयोः, एतत् अक्षरं—प्रणवरूपाक्षरं, व्याहृतिपूर्विकां—भूर्भुवः स्वरितिव्याहृतित्रयपूर्विकां, एतां—गायत्रीऋचं, च, जपन्—पुनर्पुनर्पठन्, वेदपुण्येन—वेदस्य वेदाध्ययनस्य पुण्यं तेन, पुण्यफलेन, युज्यते—युक्तो भवति।

विशेष—वेदविद्—अध्ययन प्रारम्भ करने वाले प्रथम उपनीत ब्रह्मचारी का वेदविद् होना सम्भव नहीं। यह पद सम्भवतः गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रमों के लिए प्रयुक्त है।

प्रणव, व्याहृति, गायत्री और वेद—इन चारों के परस्पराश्रित सम्बन्ध का विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि ऋग्वेद से अग्नि, भूः एवं अकार उत्पन्न हुए, यजुर्वेद से वायु, भुवः एवं उकार उत्पन्न हुए, सामवेद से आदित्य, स्वः एवं मकार उत्पन्न हुए—

'ऋग्वेद एवाग्नेरजायत। यजुर्वेदो वायोः। सामवेद आदित्यात्। तान् वेदान् अभ्यतपत। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त। भूरित्येव ऋग्वेदादजायत। भुव इति यजुर्वेदात्। स्वरिति सामवेदात्। तानि शुक्राण्यभ्यपतत्। तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्त—अकार उकारो मकार इति। तानेकधा समभरत्। तदेतदोमिति।.......एतानि ह वै वेदान्तमन्तः श्लेषणानि। यदेता व्याहृतयः'।

—ऐतरेयब्राह्मण, २५.७

सावित्री का जप पुण्यप्रद—

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते ॥७९॥

अन्वय—द्विजः एतत् त्रिकं बहिः सहस्रकृत्वः तु मासात् अभ्यस्य महतः अपि एनसः त्वचा अहिः इव विमुच्यते।

शब्दार्थ—त्रिकं—प्रणव, व्याहृति एवं गायत्री को, महतः—विशालतम, एनसः—पाप से, अहिः—सर्प।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण, प्रणव, महाव्याहृति एवं गायत्री मन्त्र को (ग्रामादि से)

बाहर (जनशून्य स्थान में) एक सहस्र बार, एक मास पर्यन्त जप कर कांचली से सर्प के समान बड़े पापों से भी छूट जाता है।

संस्कृत व्याख्या—द्विजः—द्विजातिः, एतत् त्रिकं—प्रणवव्याहृतिसावित्रीः, बहिः—ग्रामाद् नगराद् वा बहिः (अरण्यादौ एकान्तस्थले वा) सहस्रकृत्वः—सहस्र-संख्यापर्यन्तं, मासात्—मासपर्यन्तं, अभ्यस्य—पुनरावृत्तिं कृत्वा, महतः—गुरोः, अपि, एनसः—पापकर्मणः, त्वचा—कञ्चुकात्, अहिः—सर्पः इव, विमुच्यते—मुक्तो भवति।

विशेष—यहाँ ब्रह्महत्या आदि अनिष्टदायक पातकों से मुक्ति के लिए प्रायश्चित्त की सरल विधि का कथन है तब दैववश कौन पुरुष जपमात्र से साध्य सरल उपाय को त्याग कर कष्टप्रद उपवास आदि में प्रवृत्त होगा। उत्तर है कि यहाँ गोवध आदि उपपातकों के अनेक प्रायश्चित्त इष्ट नहीं हैं, यहाँ तो प्रेरणा मात्र है। कहा है—जप तथा यज्ञ नियमित रूप से करने वाले का अधःपतन नहीं होता है—'जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न दृश्यते'।

गरुड पुराण में भी कहा गया है कि गायत्री का जप शत बार, सहस्र बार, दस सहस्र बार करने से अनेक रोगों का नाश होता है।

—चतुर्वर्गचिन्तामणि, हेमाद्रि, २.६२-६३

जप के अभाव में दोष—

एतयर्चा विसंयुक्तः काले च क्रियया स्वया।
ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिर्गर्हणां याति साधुषु ॥८०॥

अन्वय—एतया ऋचा काले च स्वया क्रियया विसंयुक्तः ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिः साधुषु गर्हणां याति।

शब्दार्थ—क्रियया—अग्निहोत्रादि क्रिया, विड्योनिः—वैश्य वंश में उत्पन्न, गर्हणां—निन्दा को।

हिन्दी अर्थ—इस सावित्री ऋचा के जप और उचित समय पर की जाने वाली स्ववर्णाश्रमधर्मानुसार (अग्निहोत्रादि साध्य) क्रियाओं से रहित ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सज्जनों में निन्दा को प्राप्त करता है।

संस्कृत व्याख्या—एतया—पूर्वोक्तया, ऋचा—प्रणवव्याहृतिपूर्विकया गायत्र्या, काले—सन्ध्योपासनवेलायां, स्वया—निजया, क्रियया—अग्निहोत्रादिकर्मणा, विसंयुक्तः—विरहितः, च, ब्रह्मक्षत्रियविड्योनिः—ब्रह्म च क्षत्रियः च विट् च ब्रह्मक्षत्रियविशः, तेषां योनिः—ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवंशोद्भवाः, साधुषु—भद्रजनेषु, गर्हणां—तिरस्कारं, याति—प्राप्नोति।

विशेष—काल—महर्षि व्यास ने समय पर की जाने वाली सन्ध्याओं के पृथक् नाम दिए हैं—पूर्वाह्न में जो सन्ध्या की जाए उसका नाम गायत्री, मध्याह्न में की जाए तो सावित्री तथा सायंकाल में करने पर सरस्वती कही जाती है—

'गायत्री नाम पूर्वाह्णे सावित्री मध्यमे दिने ।
सरस्वती च सायाह्णे, सैव सन्ध्या त्रिषु स्मृता ॥'

संवर्तस्मृति के अनुसार प्रातः सन्ध्या नक्षत्र सहित (रात्रि के अन्तिम प्रहर), सायं सन्ध्या अर्ध-अस्त सूर्य के साथ तथा मध्याह्न सन्ध्या के लिए आठवाँ मुहूर्त उचित काल है—

'प्रातः सन्ध्यां सनक्षत्रमुपासीत यथाविधि ।
सादित्यां पश्चिमां सन्ध्यामर्द्धास्तमितभास्कराम् ॥'
'समसूर्येऽपि मध्याह्ने मुहूर्ते सप्तमोपरि ॥'

गर्हणा—सन्ध्या उपासना चारों वर्णों के लिए उचित है परन्तु ब्राह्मण के लिए अनिवार्य कृत्य है, इसका सम्यक् अनुष्ठान न करने वाला निकृष्टतम श्रेणी का अर्थात् निन्दनीय अब्राह्मण है—

'नोपासीत द्विजः सन्ध्यां स षष्ठोऽब्राह्मणः स्मृतः ॥'

सावित्री महिमा—

ओङ्कारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥८१॥

अन्वय—ओङ्कारपूर्विकाः अव्ययाः तिस्रः महाव्याहृतयः त्रिपदा सावित्री एव च ब्रह्मणः मुखं विज्ञेयम् ।

शब्दार्थ—अव्ययाः—अक्षय, ब्रह्मणः—ब्रह्म अथवा वेद का ।

हिन्दी अर्थ—ओङ्कारपूर्व वाली, अविनाशी अर्थात् दीर्घकालिक फल वाली, तीन महाव्याहृतियों वाली त्रिपदा गायत्री ही वेद का मुखस्वरूप है ।

संस्कृत व्याख्या—ओङ्कारपूर्विकाः—ओङ्कारः पूर्वं यासां ताः, अव्ययाः—अविनश्वराः, तिस्रः—त्रिसंख्याकाः, महाव्याहृतयः—भूर्भुवः स्वः रूपाः, त्रिपदाः—चरणत्रययुक्ताः, सावित्री—गायत्री, एव च, ब्रह्मणः—परमात्मनः वेदस्य वा, मुखं—आननं द्वारं वा, विज्ञेयं—ज्ञातव्यम् ।

विशेष—आठ मात्राओं से युक्त त्रिपदा गायत्री गाते हुए ब्रह्मा के मुख से निकली है अतः गायत्री है, ब्राह्मण ग्रन्थ भी इसके समर्थक हैं—'गायतो मुखात् उदपतत्' इति च ब्राह्मणम् । —निरुक्त, ७.२

समस्त छन्दों का मुख होने के कारण यह सर्वछन्दात्मक (वेदात्मक) है—'गायत्री छन्दसां मुखम्, गायत्री वाव सर्वाणि छन्दांसि'।

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण ६.१.६

सावित्री महिमा—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥८२॥

अन्वय—यः अतन्द्रितः अहनि अहनि त्रीणि वर्षाणि एतान् अधीते सः वायुभूत खमूर्तिमान् परं ब्रह्म अभ्येति।

शब्दार्थ—अतन्द्रितः—निरलस हुआ, अहनि—दिन में, वायुभूतः—सर्व गामी, खमूर्तिमान्—आकाश रूप, परं ब्रह्म—मुक्ति, अभ्येति—प्राप्त कर लेता है।

हिन्दी अर्थ—जो आलस्यरहित होकर प्रतिदिन तीन वर्ष पर्यन्त प्रणव महाव्याहृति सहित गायत्री मन्त्र का जप करता है, वह वायु की भाँति सर्व विचरणशील (अर्थात् सूक्ष्म शरीरी होकर) आकाश स्वरूप होकर परब्रह्म में ली हो जाता है।

संस्कृत व्याख्या—यः—द्विजः, अतन्द्रितः—निरलसः सन्, एकाग्रबुद्ध इत्यर्थः; अहनि अहनि—प्रत्यहं, प्रतिदिवसं; त्रीणि वर्षाणि एतान्—प्रणवव्याहृतिप पूर्वकगायत्रीमन्त्रान्, अधीते—पुनरावृत्तिं करोति, सः, वायुभूतः—वायुरि इच्छाचारी, खमूर्तिमान्—खं एव अस्य मूर्तिरिति, ब्रह्मस्वरूपः, परं ब्रह्म—सच्चिद नन्दस्वरूपं, अभ्येति—लीयते।

विशेष—खमूर्तिमान्—आकाश शरीररहित होता है, अतः यहाँ मूर्ति अर्थ शरीर न होकर सर्वव्यापक स्वभाव गृहीत है।

प्रणवव्याहृतियुक्त गायत्री सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की धर्ता है—'यस्या सर्वमि त्रितम्'।

—गोपथ ब्राह्मण, १.३

अपनी महत्ता से गायत्री परमात्मा सदृश श्रेष्ठ स्वीकार की गई—'गाय छन्दः परमात्मं सरूपम्'।

—महानारायणीय उपनिषद्, ३

सर्वोत्कृष्ट माध्यम—

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ॥८३॥

अन्वय—एकाक्षरं परं ब्रह्म, प्राणायामाः परं तपः, सावित्र्याः तु परं नास्ति मौनात् सत्यं विशिष्यते।

शब्दार्थ—एकाक्षरं—ॐ, मौनात्—शान्त रहने की अपेक्षा, विशिष्यते—
शिष्ट रूप है।

हिन्दी अर्थ—ॐ यह एक अक्षर ही श्रेष्ठ ब्रह्म है, प्राणायाम ही सर्वश्रेष्ठ तप
गायत्री से उत्तम अन्य कोई मन्त्र नहीं है, मौन की अपेक्षा सत्य भाषण
कृष्ट है।

संस्कृत व्याख्या—एकाक्षरं—ॐकाररूपमेकाक्षरं, परं ब्रह्म—ब्रह्मावाप्तिहेतुः,
णायामाः—श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदरूपयौगिकक्रियाविशेषाः, परं तपः—विशिष्टं
पः, साविञ्याः तु, परं—श्रेष्ठं, नास्ति—अन्यत् किञ्चिद् नास्ति, मौनात्—
णोसंयमनात्, सत्यं—अनृतं, विशिष्यते—उत्कृष्टं भवति।

विशेष—एकाक्षर—यम ने नचिकेता को उपदेश देते हुए ॐ अक्षर का महत्व
ताया है—'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परम्'। —कठोपनिषद्, २.१६

शब्द रूप ब्रह्म में निष्णात पुरुष परब्रह्म का अधिकारी होता है—'शब्दब्रह्मणि
निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति'।

प्राणायाम—भगवान् श्री कृष्ण ने प्राणायाम को यज्ञ सम उत्कृष्ट माना है—

'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥'

—श्रीमद्भगवद् गीता, ४.२९

मौन—पद के अर्थ हैं—वाणी का संयमन, अनृत वचन का परिहार, वाणी
आदि इन्द्रियों के नियमन द्वारा समाधि को प्राप्त करना।

सत्य—देशकाल के भेद से परे, शाश्वत रूप से स्थित, सर्वलोक हितकारी,
अमृत तत्त्व सत्य है—'नास्ति सत्य समो धर्मः, न सत्याद्विद्यते परम्'।
—महाभारत

नश्वर अनश्वर भेद—

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति यजतिक्रियाः।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥८४॥

अन्वय—सर्वाः वैदिक्यः जुहोतियजतिक्रियाः क्षरन्ति, अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं,
ब्रह्म एव च प्रजापतिः।

शब्दार्थ—वैदिक्यः—वैदिक क्रियाएँ, जुहोति—आहुति देना, यजति—यज्ञ
करना।

हिन्दी अर्थ—वेदविहित समस्त हवन तथा यज्ञादि कर्म (फल प्राप्ति के
अनन्तर) विनाशशील हैं, एकमात्र ॐ अक्षर ही अविनाशी, दुर्ज्ञेय, ब्रह्म संज्ञक एवं
प्रजापति है।

संस्कृत व्याख्या—सर्वाः—सकलाः, वैदिक्यः—वेदे भवाः, श्रुतिप्रतिपा… जुहोतियजतिक्रियाः—होमयागादिकर्माणि, क्षरन्ति—विनश्यन्ति, अक्षरं—न क्ष… अक्षरः तं प्रणवम्, अक्षयं, दुष्करं—कठिनं, ज्ञेयं—ज्ञातुं योग्यं, ब्रह्म—ब्रह्मस… एव च, प्रजापतिः—प्रजानाम् अधिपतिः, सृष्टिकर्त्ता ।

विशेष—ॐ—पद एक छोटा-सा अक्षर है किन्तु सम्पूर्ण संसार इ… व्याख्या है, भूत-वर्तमान-भविष्यत्—सब इसी का विस्तार है और जो त्रिका… —है, वह भी ओंकार का ही प्रसार है—

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्व… एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ।

—माण्डूक्योपनि…

यज्ञ से नश्वर स्वर्ग की प्राप्ति होती है किन्तु ओ३म् के जप से ब्रह्म… तादात्म्य प्रतीति होती है ।

विविध जप श्रेष्ठ—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥८५॥

अन्वय—विधियज्ञात् जपयज्ञः दशभिः गुणैः विशिष्टः उपांशुः श… स्यात् मानसः साहस्रः स्मृतः ।

शब्दार्थ—विधियज्ञ—वेदविहित यज्ञ, उपांशुः—होठों ही होठों में… जाने वाला जप, मानसः—चिन्तन रूप ।

हिन्दी अर्थ—दर्शपौर्णमासादि यज्ञों से गायत्री जपयज्ञ दस गुना श्रे… गायत्री जपयज्ञ से उपांशु यज्ञ सौ गुना श्रेष्ठ है तथा उपांशु यज्ञ से मानस यज्ञ… गुना श्रेष्ठ है ।

संस्कृत व्याख्या—विधियज्ञात्—विधिविषयकः यज्ञः विधियज्ञः, त… अमावस्यापूर्णिमादितिथिषु सम्पादितदर्शपौर्णमासादियज्ञात्; जपयज्ञः—ग… पुनरावृत्तिरूपक्रिया, दशभिः—दशगुणाधिकैः, विशिष्टः—उत्कृष्टः, उपां… तन्नामकः यज्ञः, शतगुणः—शतवाराधिकैः श्रेष्ठः, स्यात्—भवेत्, मानसः—मान… यज्ञः, साहस्रः—सहस्रावृत्तैः उत्तमः, स्मृतः—प्रोक्तः ।

विशेष—जप—वाचक, उपांशु और मानस के भेद से तीन प्रकार… होता है—

'त्रिविधो जपयज्ञः स्यात् तस्य भेदान् निबोधत ।
वाचिकश्च ह्युपांशुश्च मानसश्च त्रिधा मतः ।।'

वाचिक के अन्तर्गत दर्शपौर्णमासादि अमावस्या एवं पूर्णिमा तिथियों में न्न होने वाले यज्ञ सम्मिलित हैं।

उपांशु के अन्तर्गत वे जप हैं जो किसी अन्य को सुनाई नहीं देते हैं—'उपगता वो अत्र'। लक्षण इस प्रकार है—

'जिह्वोष्ठौ चालयेत् किञ्चिद्देवतागतमानसः ।
निजश्रवणयोग्यः स्यादुपांशुः (स) जपः स्मृतः ।।'

मानस अर्थात् मन में निरन्तर चलने वाला ब्रह्मचिन्तन—'यत्र जिह्वोष्ठं गपि न चलति, स मानसः।'

यज्ञ सर्वोत्तम—

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः ।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।८६।।

अन्वय—विधियज्ञसमन्विताः ये चत्वारः पाकयज्ञाः ते सर्वे जपयज्ञस्य षोडशीं ां न अर्हन्ति।

शब्दार्थ—चत्वारः—चार, षोडशीं कलां—सोलहवां भाग (फल प्रदान में न्त तुच्छ)।

हिन्दी अर्थ—दर्शपौर्णमासादि विधियज्ञों सहित सम्पादित बलिवैश्वदेव, , नित्यश्राद्ध, अतिथिभोजन रूप चार पाकयज्ञ, जपयज्ञ के सोलहवें अंश के भी बर नहीं हैं।

संस्कृत व्याख्या—विधियज्ञसमन्विताः—दर्शपौर्णमासादिसहिताः, ये चत्वारः यज्ञाः—बलिवैश्वदेवहोमनित्यश्राद्धातिथिभोजनात्मकाः चतुस्संख्याकयागाः, ते —सकलाः ते, जपयज्ञस्य—गायत्रीमन्त्रार्थभावनरूपः, षोडशीं कलां—षोडशांशं, र्हन्ति—तुल्यो न सन्ति।

विशेष—पाकयज्ञाः—पक्वान्न खीर इत्यादि की आहुति गार्हपत्य अग्नियों में जाती है अतः इन्हें पाकयज्ञ कहते हैं। ये संख्या में पाँच हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ,) देवयज्ञ, (३) भूतयज्ञ, (४) मनुष्ययज्ञ, (५) पितृयज्ञ।

'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ।।'

—मनुस्मृति, ३.७०

प्रस्तुत स्थल पर ब्रह्मयज्ञ—वेदाध्ययन को ग्रहण नहीं किया है।

स्नेह परिपूर्ण ब्राह्मण—

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥८७॥

अन्वय—ब्राह्मणः तु जप्येनैव संसिध्येत्, अत्र संशयः न । अन्यत् कुर्यात्, कुर्यात्, मैत्रः ब्राह्मणः उच्यते ।

शब्दार्थ—संसिध्येत्—सिद्धि प्राप्त कर लेता है, संशयः—सन्देह ।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण जपयज्ञ के माध्यम से ही सिद्धि अर्थात् मोक्षलाभ करता है, इसमें सन्देह नहीं, अन्य कोई वैदिक कर्म करे अथवा न करे, सबके स्नेह भाव रखने से वह ब्राह्मण कहा जाता है

संस्कृत व्याख्या—ब्राह्मणः तु, जप्येन—गायत्रीपुनरावर्तनेन एव, संसिध्ये मुक्तिं भवति, अत्र—अस्मिन्विषये, संशयः—सन्देहः, न—नास्ति, अन्यत्—जप यजतिजुहोत्यादि वैदिककर्म, कुर्यात् न वा कुर्यात्—करोतु न वा करोतु, मैत्रः— भवः, प्राणिदयाशीलः, ब्राह्मणः, उच्यते—कथ्यते ।

विशेष—मैत्र—टीकाकारों के अनुसार मित्र पद के अर्थ इस प्रकार प्राणिजाति को प्रिय, पशु याग न करने वाला, सूर्य देवता से सम्बद्ध गायत्री म उपासक। ब्राह्मण के लिए निर्धारित चार गुणों में से एक है—अवध्यता जि अवशिष्ट तीन गुणों—ब्राह्मण्य (पवित्र पैतृकता), प्रतिरूपचर्या (सदाचरण) लोकपक्ति (वेदाध्ययन द्वारा पूर्ण बनाना) द्वारा सम्पादित कर मानव मात्र का क करता है अतः मैत्र ब्राह्मण कहलाता है—'प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मण निष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्यां यशो लोकपक्तिं लोकः ।

—शतपथ ब्राह्मण, ११.५

इन्द्रियनिग्रह संयम—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम् ॥८८॥

अन्वय—विद्वान् अपहारिषु विषयेषु विचरताम् इन्द्रियाणां संयमे, वा यन्ता इव, यत्नम् आतिष्ठेत् ।

शब्दार्थ—अपहारिषु—मनोहर, वाजिनां—घोड़ों को, यन्ता—सारथि

हिन्दी अर्थ—बुद्धिमान् पुरुष चित्त का हरण कर लेने वाली, विष विचरण करती हुई इन्द्रियों का उसी प्रकार निग्रह करे जिस प्रकार सारथि को वश में रखने का प्रयत्न करता है ।

संस्कृत व्याख्या—विद्वान्—विवेकशीलपुरुषः, अपहारिषु—अपहर्तुं येषां ते अपहारिणः, तेषु, चित्ताकर्षकेषु; विषयेषु—रूपरसगन्धस्पर्शघ्राणादिवि

विचरतां—भ्रमतां, वर्तमानानामित्यर्थः, इन्द्रियाणां—ज्ञानमाध्यमिकानां, संयमे—नियमने, वाजिनां—अश्वानां, यन्ता—कुशलशारथिः, इव यत्नं—उपायं, आतिष्ठेत्—कुर्यात् ।

विशेष—भारतीय दर्शन ने मनुष्य को सदा से ही निग्रह की ओर प्रेरित किया है, सर्वत्र विचरणशील मन को संयम की रस्सियों से नियन्त्रित करने का सन्देश दिया है—

'सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।।'

—शुक्लयजुर्वेद, ३४.६

एकादश इन्द्रियाँ—

एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः ।
तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।।८९।।

अन्वय—पूर्वे मनीषिणः यानि एकादशेन्द्रियाणि आहुः तानि यथावत् अनुपूर्वशः सम्यक् प्रवक्ष्यामि ।

शब्दार्थ—मनीषिणः—विद्वानों ने, अनुपूर्वशः—अनुक्रम से, सम्यक्—भलीभाँति ।

हिन्दी अर्थ—प्राचीन पण्डितों ने जो ग्यारह इन्द्रियाँ बताई हैं उन्हें यथावत् क्रम से कहता हूँ ।

संस्कृत व्याख्या—पूर्वे—प्राचीनाः, मनीषिणः—पण्डिताः, यानि, एकादशेन्द्रियाणि—ज्ञानेन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि, उभयेन्द्रियं, आहुः—वदन्ति, तानि, यथावत्—सम्यक् रीत्या, नामतः कर्मतश्च इत्यर्थः, अनुपूर्वशः—क्रमानुसारतः, प्रवक्ष्यामि—कथयिष्यामि ।

इन्द्रिय संज्ञा—

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता ।।९०।।

अन्वय—श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा पञ्चमी नासिका च एव पायूपस्थं हस्तपादं वाक् च दशमी एव स्मृता ।

शब्दार्थ—पायु—गुदा, उपस्थं—जननेन्द्रिय ।

हिन्दी अर्थ—कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, पाँचवीं इन्द्रिय नाक, गुदा, जननेन्द्रिय, हाथ, पैर और दसवीं इन्द्रिय वाणी कही गई है ।

संस्कृत व्याख्या—एकादशसु—इन्द्रियेषु, श्रोत्रं—कर्णद्वयं, त्वक्—चर्म,

चक्षुषी—नयने, जिह्वा—रसना, पञ्चमी—पञ्चसंख्यापूरणी, नासिका—घ्राणेन्द्रियं, चैव, पायूपस्थं—पायु-गुदा च, उपस्थं—जननेन्द्रियं, च तयोः समाहारः; हस्तपादं—हस्तौ च पादौ च, अनयोः समाहारः, पाणिचरणं; वाक्—वाणी, च, एव, दशमी—दशसंख्यापूरणी, स्मृता—प्रसिद्धा।

विशेष—चक्षुषी—पद अधिष्ठान के भेद से द्विवचन में प्रयुक्त है।

पायूपस्थम् हस्तपादं—द्वन्द्व भाव के प्रभाव से (प्राणि अंग होने के कारण) समाहार—'द्वन्द्वश्चप्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्'।

—अष्टाध्यायी, २.४.२

ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय विभाग—

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते ॥९१॥

अन्वय—एषाम् अनुपूर्वशः श्रोत्रादीनि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि एषां पाय्वादीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि प्रचक्षते।

शब्दार्थ—बुद्धीन्द्रियाणि—ज्ञानेन्द्रियाँ, प्रचक्षते—कही गई हैं।

हिन्दी अर्थ—इन दस इन्द्रियों में से क्रम से प्रथम पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा पायु आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही गई हैं।

संस्कृत व्याख्या—एषां—पूर्वकथितानां, अनुपर्वशः—क्रमशः, श्रोत्रादीनि—कर्णप्रभृतीनि, पञ्च—पञ्चसंख्याकानि, बुद्धीन्द्रियाणि—ज्ञानेन्द्रियाणि, तथा, पाय्वादीनि—गुदप्रभृतीनि, कर्मेन्द्रियाणि, प्रचक्षते—विद्वद्भिः कथिताः।

विशेष—कार्य भेद से इनके दो विभाग किए गए—

(१) बुद्धीन्द्रिय—विशेष ज्ञान की जनक।

(२) कर्मेन्द्रिय—उत्सर्ग आदि कर्मों में साधन रूप।

ग्यारहवीं इन्द्रिय मन—

एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिञ्जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ ॥९२॥

अन्वय—स्वगुणेन उभयात्मकम् एकादशं मनः ज्ञेयं। यस्मिन् जिते एतौ पञ्चकौ गणौ जितौ भवतः।

शब्दार्थ—उभयात्मकं—उभय स्वरूप, गणौ—दोनों समूह।

हिन्दी अर्थ—अपने गुणों—ज्ञानात्मक एवं क्रियात्मक—दोनों से ग्यारहवीं इन्द्रिय मन को जानना चाहिए, जिसे जीत लेने पर उपर्युक्त पाँच-पाँच इन्द्रियों (कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों) के समूहों पर विजय प्राप्त हो जाता है।

संस्कृत व्याख्या—स्वगुणेन—स्वस्य गुणः स्वगुणः, तेन, आत्मनः संकल्प-विकल्पात्मकेन वैशिष्ट्येन; उभयात्मकं—ज्ञानक्रियास्वरूपात्मकं, एकादशं—एकादश-संख्यापूरणं, मनः—चित्त, ज्ञेयं—ज्ञातव्यं, यस्मिन्—मनसि, जिते—वशीकृते, एतौ—उपरिकथितौ, पञ्चकौ गणौ—ज्ञानक्रियारूपदशेन्द्रियाणां समूहौ, जितौ—वशीकृतौ, भवतः।

विशेष—मनः—शुभ तथा अशुभ संकल्पों वाला मन अन्तर् इन्द्रिय है—'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'।

—शुक्ल यजुर्वेद, ३४.१.६

विवेकशील और संयमीपुरुष अन्तरात्मा से पवित्र होकर ईश्वर के परम पद का अधिकारी होता है—

'यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदाशुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते॥'

—कठोपनिषद्, ३.८

इन्द्रिय संयम से सिद्धि—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥६३॥

अन्वय—इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन असंशयं दोषम् ऋच्छति। तानि एव सन्नियम्य तु ततः सिद्धिं नियच्छति।

शब्दार्थ—प्रसङ्गेन—प्रसक्त होने से, ऋच्छति—प्राप्त करता है, नियच्छति—नियन्त्रण में कर लेता है।

हिन्दी अर्थ—इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति होने से मनुष्य निःसन्देह दोषगामी होता है किन्तु उन्हीं इन्द्रियों को नियन्त्रित कर लेने से निश्चय ही सिद्धि को प्राप्त करता है।

संस्कृत व्याख्या—इन्द्रियाणां—ज्ञानक्रियागणानामिन्द्रियाणां, प्रसङ्गेन—आसक्त्या, असंशयं—निःसन्देहं, दोषं—कामक्रोधादिविकारं, पुनर्जन्मरूपदुःखं वा; ऋच्छति—प्राप्नोति, तानि—इन्द्रियाणि, एव, सन्नियम्यवशीकृत्य, तु, ततः—पश्चात्, सिद्धिं—मोक्षरूपपुरुषार्थं, नियच्छति—प्राप्नोति।

विशेष—**सिद्धिम्**—अतिमानवीय शक्ति अथवा अहेतुक अद्भुत सफलता अथवा चमत्कार। अष्ट सिद्धियों के नाम इस प्रकार हैं—

'अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा।
ईशित्वञ्च वशित्वञ्च सर्वकामावसायिता॥'

—ब्रह्मवैवर्तपुराण, १.६.१८

भगवान् कृष्ण ने सिद्धि को ब्रह्म के समकक्ष माना है—'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध में'।

—श्रीमद्भगवद् गीता, १८.५०

विषयों के उपभोग से इच्छाओं की वृद्धि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥६४॥

अन्वय—कामः कामानाम् उपभोगेन जातु न शाम्यति हविषा कृष्णवर्त्मा इव भूय एव अभिवर्धते।

शब्दार्थ—जातु—कदाचित्, हविषा—आहुति से, कृष्णवर्त्मा—अग्नि।

हिन्दी अर्थ—तृष्णा विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती है वरन् घी इत्यादि की आहुति से अग्नि के समान पुनः-पुनः बढ़ती जाती है।

संस्कृत व्याख्या—कामः—मनोरथः, कामानां—विषयाणां, उपभोगेन—आस्वादनेन, जातु—कदाचिदपि, न, शाम्यति—शान्तो भवति, हविषा—घृतान्नादि-प्रदानेन, कृष्णवर्त्मा—अग्निः, इव, भूयः—अधिकतमं एव, अभिवर्धते—सर्वथा वर्धते।

विशेष—एक आवश्यकता दूसरी आवश्यकता को जन्म देती है और इस प्रकार एक अनन्त शृंखला बनती चली जाती है, अतः आवश्यकताओं का यथाशक्ति परित्याग आवश्यक है—

'यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तदित्यतितृषं त्यजेत् ॥'

—विष्णुपुराण, ४.२.२४

उपभोग की अपेक्षा परित्याग श्रेष्ठ—

यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥६५॥

अन्वय—यः च एतान् सर्वान् प्राप्नुयात्, यः च एतान् (सर्वान्) केवलान् त्यजेत्, (उभयोः) सर्वकामानां प्रापणात् परित्यागः विशिष्यते।

शब्दार्थ—केवलान्—भोगों को, प्रापणात्—उपलब्धि से।

हिन्दी अर्थ—जो मनुष्य इन सम्पूर्ण विषयों के सुखों को प्राप्त कर ले और जो इन समग्र विषय सुखों का त्याग कर दे, उन दोनों में समस्त कामनाओं के उपभोग की अपेक्षा परित्याग करने वाला मनुष्य श्रेष्ठ है।

संस्कृत व्याख्या—यः—कश्चित्पुरुषः, च, एतान्—उपर्युक्तान्, सर्वान्—

इन्द्रियविषयकसकलभोगान्, प्राप्नुयात्—उपभुञ्जीत, यः च, एतान् केवलान्—सर्वाभिलाषान्, त्यजेत्—उपेक्षेत, सर्वकामानां—समग्रविषयाणां, प्रापणात्—उपभोगात्, परित्यागः—पराङ्मुखत्वं, विशिष्यते—श्रेयस्करोऽस्ति।

विशेष—भौतिकता का वरण आरम्भ में सुखदायी किन्तु अन्ततः दुःखापूर्ण है, इसके विपरीत अपवर्ग के प्रति प्रयास आरम्भ में अभ्यास के अभाव में कष्टसाध्य है किन्तु परिणाम आत्यन्तिक सुख है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उप्रेयो वृणीते ॥'

—कठोपनिषद्, २.१

इन्द्रिय संयम का उपाय—

न तथैतानि शक्यन्ते सन्नियन्तुमसेवया।
विषयेषुप्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥६६॥

अन्वय—विषयेषु प्रजुष्टानि एतानि असेवया सन्नियन्तुं तथा न शक्यन्ते यथा नित्यशः ज्ञानेन।

शब्दार्थ—प्रजुष्टानि—प्रीति रखने वाली, असेवया—निषेध से।

हिन्दी अर्थ—विषय भोगों में आसक्त इन्द्रियों पर सर्वदा ज्ञान से जिस प्रकार नियन्त्रण रखा जा सकता है वैसा विषयों के सेवन न करने से नहीं।

संस्कृत व्याख्या—विषयेषु—ऐन्द्रियरूपरसगन्धस्पर्शशब्देषु, प्रजुष्टानि—प्रेम्णा प्रसक्तानि, एतानि—एकादशेन्द्रियाणि, असेवया—न सेवया, सन्नियन्तुं—वशीकर्तुं, तथा—तथाविधेन न शक्यन्ते, यथा—यथाविधेन, नित्यशः—सर्वदा, ज्ञानेन—नित्यानित्यविवेकेन।

विशेष—कामनादहन की सामर्थ्य से युक्त विवेकबुद्धि का आश्रय लेकर श्रेय के मार्ग पर अग्रसर होना कल्याणकर हो सकता है, यह सन्देश अन्यत्र भी सन्निहित है—

'यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥'

—श्रीमद्भगवद्गीता, ४.३७

इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाले पुरुष की आसक्ति भी परमात्मा के साक्षात्कार का माध्यम बनती है—

'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा विनिवर्तते ॥'

—श्रीमद्भगवद्गीता, २.५९

दुर्भावना से सिद्धि नहीं—

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च ।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित् ॥९७॥

अन्वय—विप्रदुष्टभावस्य वेदाः त्यागः च यज्ञाः च नियमाः च तपांसि च कर्हिचित् सिद्धिं न गच्छन्ति ।

शब्दार्थ—विप्रदुष्टभावस्य—दूषित अन्तःकरण वाले व्यक्ति का, सिद्धिं—सफलता को ।

हिन्दी अर्थ—दूषित भावना वाले मनुष्य का वेदाध्ययन, दान, यज्ञानुष्ठान, नियमपालन और तपस्या कभी सफल नहीं होते हैं ।

संस्कृत व्याख्या—विप्रदुष्टभावस्य—विशेषेण प्रदुष्टः भावः यस्य सः, दूषित-मनोवृत्तेः जनस्य; वेदाः—वेदाध्ययनं, त्यागः—दानं, च, यज्ञाः—यागादयः क्रियाः, च, नियमाः—व्रतादयः, च, तपांसि—तपश्चरणानि, च कर्हिचित्—कदाचन, सिद्धिं—सफलतां, न, गच्छन्ति—प्राप्नुवन्ति ।

विशेष—मुक्ति की ओर जाने वाला प्रत्येक मार्ग अलभ्य है यदि व्यक्ति का मन पवित्र नहीं है—

'नाविरतो दुश्चरितान्ना शान्तो ना समाहितः ।
नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥'

—कठोपनिषद्, २.२४

जितेन्द्रिय परिचय—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥९८॥

अन्वय—यः नरः श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च घ्रात्वा च न हृष्यति न ग्लायति, स जितेन्द्रियः विज्ञेयः ।

शब्दार्थ—स्पृष्ट्वा—स्पर्श करके, घ्रात्वा—सूंघ करके, हृष्यति—हर्षित होता है, ग्लायति—ग्लानियुक्त होता है ।

हिन्दी अर्थ—जो मनुष्य (प्रशंसा-निन्दा) सुनकर (चिकने-रूक्ष) का स्पर्श कर (सुन्दर-असुन्दर को) देखकर (स्वादिष्ट-स्वादहीन को) खा कर (सुगन्ध-दुर्गन्ध को) सूंघ कर न तो हर्षित होता है और न खिन्न, उसे जितेन्द्रिय जानना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या—यः, नरः—सज्जनः, श्रुत्वा—मधुरकर्णकटुशब्दं वा निशम्य, स्पृष्ट्वा—कोमलकठिनं वा स्पृश्य, च, दृष्ट्वा—सुरूपकुरूपं वा अवलोक्य, च, भुक्त्वा—सुस्वादुनीरसं वा खादित्वा, च, घ्रात्वा—सुरभिदुर्गन्धि वा आघ्राय, च न,

हृष्यति—प्रसीदति, न, ग्लायति—विषीदति, सः, जितेन्द्रियः—जितानि इन्द्रियाणि येन सः, संयमेन्द्रियः, विज्ञेयः—ज्ञातव्यः ।

विशेष—द्वन्द्वों के भीषण आघात में अविचलित भाव से स्थिर खड़े रहना वास्तव में कठिन है, प्रशंसनीय है, मार्ग प्रशस्तकारक है—

'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥'

—श्रीमद्भगवद्गीता, ५.२०

असंयम से प्रज्ञा क्षय—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥९९॥

अन्वय—सर्वेषां तु इन्द्रियाणां यदि एकम् इन्द्रियं क्षरति, तेन अस्य दृतेः पादात् उदकम् इव प्रज्ञा क्षरति ।

शब्दार्थ—क्षरति—स्खलित होती है, दृतेः—चर्मपात्र (मशक), उदकं—जलं, प्रज्ञा—बुद्धि ।

हिन्दी अर्थ—सभी एकादश इन्द्रियों में से यदि एक भी इन्द्रिय विषयासक्त है तो उससे उस मनुष्य की विवेक बुद्धि का नाश उसी प्रकार होता है जिस प्रकार चर्मपात्र के छिद्र से जल बह जाता है ।

संस्कृत व्याख्या—सर्वेषां तु इन्द्रियाणां—एकादशेन्द्रियाणां मध्ये, यदि—चेत्, एकम् इन्द्रियं—नेत्रादिकं, क्षरति—स्खलयति, तेन—च्युतेन्द्रियेण, अस्य—मानवस्य, दृतेः—चर्मपात्रात्, पादात्—छिद्रात्, उदकं—जलं, इव, प्रज्ञा—सदसद्विवेकिनी बुद्धिः, क्षरति—विनश्यति ।

विशेष—मनुष्य की किसी एक विषय में रञ्चमात्र भी आसक्ति शेष रहने पर उसकी बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में स्थिर नहीं हो पाती है । प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ ही आसक्ति का कारण हैं—

'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।'

—श्रीमद्भगवद्गीता, २.६०

क्षरति—अन्तरतम का नितान्त शून्यत्व क्षरण है—

'अन्तःसारशून्यतागामित्वसूचकम् ।'

इन्द्रिय संयम पुरुषार्थ का हेतु—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
सर्वान्संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥१००॥

अन्वय—इन्द्रियग्रामं वशे कृत्वा मनः संयम्य च तथा योगतः तनुम् अक्षिण्वन् सर्वान् अर्थान् संसाधयेत् ।

शब्दार्थ—ग्रामं—समूह को, योगतः—योगानुसार, अक्षिण्वन्—क्षीण न करते हुए ।

हिन्दी अर्थ—इन्द्रियों के समूह को वश में कर, मन को संयमित कर, योग के माध्यम से शरीर को संरक्षित कर, मनुष्य सब अर्थों (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, चारों पुरुषार्थों) को सिद्ध करे ।

संस्कृत व्याख्या—इन्द्रियग्रामं—इन्द्रियाणां ग्रामं, इन्द्रियसमूहं; वशे कृत्वा—जित्वा, मनः—चित्तं, संयम्य—वशीकृत्य, च तथा, योगतः—यौगिकविधेः, तनुं—शरीरं, अक्षिण्वन्—संरक्षन्, सर्वान् अर्थान्—धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थान्, संसाधयेत्—सम्यक् लभ्येत ।

विशेष—**योगतः**—हठयोग की प्रवृत्ति द्वारा इन्द्रियों पर अस्वाभाविक नियन्त्रण सर्वथा अनुचित है; उससे इन्द्रियाँ अवसर पाते ही उच्छृंखल हो जाती हैं, मन का नियन्त्रण ही वास्तविक है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' ।

—पातञ्जलयोगदर्शन, १.२

टीकाकारों ने अन्य अर्थ भी किए हैं—युक्तिपूर्वक, क्रम से प्रवृत्त होना, यथोचित, विशेष सावधानीपूर्वक, उपायपूर्वक, देवता आदि की उपासनापूर्वक—मन्तव्य सब का एक ही है—शरीर को पीड़ा न देते हुए ।

अर्थान् (पुरुषार्थ)—पुरुष द्वारा प्राप्त करने योग्य पदार्थ पुरुषार्थ है । पद्म-पुराण के अनुसार धर्म से अर्थ, अर्थ से काम एवं काम से मोक्ष रूप पुरुषार्थ का क्रमशः उदय होता है—

'धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामाद्धर्मफलोदयः ।
इत्येवं निर्णयं शास्त्रे प्रवदन्ति विपश्चितः ॥'

सन्ध्योपासना काल—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥१०१॥

अन्वय—पूर्वां सन्ध्यां आ अर्कदर्शनात् सावित्रीं जपन् तिष्ठेत् (आ) ऋक्ष विभावनात् पश्चिमां सम्यक् समासीनः (तिष्ठेत्) ।

शब्दार्थ—आ अर्कदर्शनात्—सूर्योदय पर्यन्त, आ ऋक्षविभावनात्—नक्षत्रों के निकलने तक ।

हिन्दी अर्थ—प्रातःकालीन सन्ध्योपासना में सूर्योदयपर्यन्त खड़े होकर गायत्री

का जप करे तथा सायंकालीन सन्ध्योपासना में तारों के उदय होने तक भली-भाँति बैठ कर गायत्री का जप करे।

संस्कृत व्याख्या—पूर्वां सन्ध्यां—प्रात:सन्ध्योपासनां, आ अर्कदर्शनात्—सूर्योदयपर्यन्तं, सावित्रीं—गायत्रीमन्त्रं, जपन्—अभ्यसन्, तिष्ठेत्—एकासनस्थितिं कुर्यात्, आ ऋक्षविभावनात्—ऋक्षाणां विभावनं तस्मात्, नक्षत्रदर्शनपर्यन्तं, पश्चिमां—सान्ध्यकालिकसन्ध्योपासनां, सम्यक्—सुष्ठु प्रकारेण, समासीन:—उपविष्ट:।

विशेष—सन्ध्या—सविता की उपासना के कारण इसे सावित्र काल कहा गया है। यह वह काल है जब द्युलोक में प्रकाश तथा पृथ्वी पर अन्धकार फैला हो—'दिवि प्रकाशो भुवि चान्धकार: काल: स सावित्र इति प्रदिष्ट:।'

सान्ध्य वेला एक ज्योति के लुप्त होने के अनन्तर दूसरे ज्योतिष्मान् के दर्शन तक की अवधिवाली मानी गई है। इस समय न तो सम्पूर्ण अन्धकार होता है और न परिपूर्ण प्रकाश—'न सर्वं तम: क्षीणं नापि परिपूर्ण: प्रकाश एषा सन्ध्या।'

'उपास्ते सन्धिवेलायां निशाया दिवसस्य च।
तामेव सन्ध्यां तस्मात्तु प्रवदन्ति मनीषिण:॥'

—महर्षि व्यास के अनुसार

दिवस और रात्रि की सन्धि में भक्तिभाव से परिपूर्ण पूजादि क्रिया के कारण यह सन्ध्या है अथवा सम्यक् रूप से ध्यान के कारण यह सन्ध्या है—'सम्यक् ध्यायन्त्यस्यामिति' अथवा दोनों कालों को धारण करती है अत: यह सन्ध्या है—'संदधातीति।'

मध्याह्न भी सन्ध्याकाल है अत: तीनों सन्ध्याकालों में जो उपासना की जाती है वह त्रिकाल सन्ध्या है। महर्षि याज्ञवल्क्य ने सन्ध्या के लक्षण में, तीनों वेदों (ऋक्, यजु:, साम), तीनों देवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) और समस्त श्रेष्ठत्व का समागम अधिगृहीत कर इसे सन्ध्या नाम दिया है—

'त्रयाणाञ्चैव वेदानां ब्रह्मादीनां समागम:।
सन्धि: सर्वसुराणाञ्च तेन सन्ध्या प्रकीर्तिता॥'

उदित अनुदित आदि होम करने वालों के लिए सन्ध्या उपासना के पश्चात् होम का विधान किया गया है। महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार सन्ध्याकाल मुहूर्तमात्र स्थाई होता है—

'ह्रासवृद्धौ तु सततं दिवसानां यथाक्रमम्।
संध्या मुहूर्तमात्रं तु ह्रासे वृद्धौ च सा स्मृता॥'

—महर्षि व्यास के अनुसार

चौबीस मिनट की एक घटिका (घड़ी) तथा दो घटिका अर्थात् अड़तालीस मिनट का एक मुहूर्त होता है--संस्कृत हिन्दी कोष, आप्टे। यह अलस्थाई काल थोड़ा विलम्ब करने पर सूक्ष्मता के कारण पता ही नहीं लगता है। —मेधातिथि

तिष्ठेत्—प्रभात में आलस्य परित्याग के लिए खड़ा रहे।

समासीनः—सायंकाल शान्ति की इच्छा से बैठे।

सन्ध्योपासना का फल—

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥१०२॥

अन्वय—पूर्वां सन्ध्यां जपन् तिष्ठेत् नैशम् एनः व्यपोहति। पश्चिमां समासीनः तु दिवाकृतं मलं हन्ति।

शब्दार्थ—नैशं—रात्रिकालीन, व्यपोहति—नष्ट करता है, मलं—अशुभ को।

हिन्दी अर्थ—प्रातः सन्ध्या में खड़े होकर गायत्री जप करने से व्यक्ति रात्रिकालीन पाप को दूर करता है तथा सायंकाल में बैठ कर गायत्री जप करने से व्यक्ति दिन में किए गए अशुभ कर्म को नष्ट करता है।

संस्कृत व्याख्या—पूर्वां सन्ध्यां—प्रातःकालोपासनायां, जपन्—गायत्रीमभ्यसन्, तिष्ठेत्, नैशं—निशायां भवं, निशार्जितं; एनः—पापं, व्यपोहति—नाशयति, पश्चिमां—सायंकालार्चने, समीसीनः—उपविष्टः, दिवाकृतं—दिवससञ्चितं, मलं—पापकर्म, हन्ति—समापयति।

विशेष—सभी टीकाकारों के अनुसार स्थान व आसन गौण है, सान्ध्यकालीन सावित्री जप फलवान् होने के कारण प्रधान है।

महर्षि याज्ञवल्क्य के अनुसार त्रिकालसन्ध्या सार्वकालिक पापों की नाशिका है—

'दिवा वा यदि वा रात्रौ यदज्ञानकृतं भवेत्।
त्रिकालसन्ध्याकरणात्तत्सर्वं विप्रणश्यति ॥'

मनीषियों ने सार्वकालिक पाप को—कायिक, वाचिक एवं मानसिक तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। सामान्य रूप से गृहस्थ के गृह में चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और जल रखने के स्थान में हिंसा से तथा अन्यान्य प्रकार से सार्वकालिक पापकर्म होते ही रहते हैं—

'कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी।
पञ्च सूना गृहस्थस्य वर्तन्तेऽहरहः सदा ॥'

संध्याहीन बहिष्कार्य—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥१०३॥

अन्वय—यः तु पूर्वां न तिष्ठति, यः च पश्चिमां न उपास्ते, सः शूद्रवत् सर्वस्मात् द्विजकर्मणः बहिष्कार्यः ।

शब्दार्थ—पूर्वां—प्रातःकालीन, पश्चिमां—सायंकालीन ।

हिन्दी अर्थ—जो द्विज प्रातःकालीन तथा सान्ध्यकालीन सन्ध्योपासना नहीं करता है उसे समस्त द्विजकर्मों से शूद्र के समान बहिष्कृत कर देना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या—यः द्विजः, तु-पुनः, पूर्वां—प्रातःसन्ध्यां, न, तिष्ठति-अनुष्ठानं करोति, यः च, पश्चिमां—सायंपूजां, न, उपास्ते—सेवते, सर्वस्मात्—सकलात्, द्विजकर्मणाः—द्विजस्य कर्म, तस्मात्—अतिथिसत्काराध्ययनाध्यापनादि-ब्राह्मणाधिकारात्, शूद्रवत्—चतुर्थवर्णवत्, बहिष्कार्यः—निःसार्यः ।

विशेष—ब्राह्मण्य तीन सन्ध्याओं में पाया जाता है, जो सन्ध्योपासना नहीं करता वह ब्राह्मण नहीं है—गोभिलस्मृति, १-१ । अतः राजा के लिए आवश्यक है कि वह सन्ध्या न करने वाले ब्राह्मणों से शूद्र का काम ले—

'सायं प्रातः सदा सन्ध्यां ये विप्रा नो उपास्ते ।
कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत् ॥

—बौधायन धर्मसूत्र २-४-२०

सावित्री जपविधान—

अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थितः ॥
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वाऽरण्यं समाहितः ॥१०४॥

अन्वय—अरण्यं गत्वा समाहितः अपां समीपे नैत्यकं विधिम् आस्थितः नियतः सावित्रीम् अपि अधीयीत ।

शब्दार्थ—अपां—जल के, नैत्यकं—दैनिक, आस्थितः—अनुष्ठान को प्रस्तुत ।

हिन्दी अर्थ—वन अर्थात् एकान्त स्थल में जाकर, एकाग्रचित्त से, जल के समीप दैनन्दिन कृत्यों का सम्पादन कर नियमपूर्वक गायत्री का भी अध्ययन (जप) करे ।

संस्कृत व्याख्या—अरण्यं—वनं निर्जनस्थलं वा, गत्वा—उपगम्य, समाहितः—एकाग्रचित्तः, अपां समीपे—जलसन्निकटे, नैत्यकं—नित्ये भवं, दैनिकं; विधि—क्रियाकलापं, आस्थितः—विहितः, नियतः—नियमेन, सावित्रीं—प्रणवमहाव्याहृति-युक्तगायत्रीं अपि, अधीयीत—अभ्यसेत् ।

विशेष—अरण्यम्—अनेक धर्मशास्त्रों ने गाँव के बाहर पवित्र एकान्त स्थल, गौशाला, विष्णुमन्दिर अथवा शिवालय, नदी तट अथवा उसके अभाव में जल पूर्ण कमण्डल इत्यादि के पास सन्ध्या करना क्रम से दस गुना, लाख गुना या असंख्य गुना श्रेष्ठ माना है।

—धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पृ० २२७

नैत्यकं विधिम्—नित्य कर्म ही नैत्यक विधि है। इन कर्मों को न करने से पुण्य नहीं होता है किन्तु न करने से पाप लगता है, अतः नित्यकर्म अवश्य करणीय है। ये वस्तुतः प्रतिदिन अज्ञान में होने वाले पापों के विनाश हेतु किए जाते हैं। ब्रह्मचारी के पक्ष में यह ब्रह्मयज्ञ वेदाध्ययन की अनध्याय (अवकाशरहित) विधि को बताते हैं।

अनध्याय की अविचार्यता—

वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यके।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममन्त्रेषु चैव हि ॥१०५॥

अन्वय—वेदोपकरणे, च एव, नैत्यके स्वाध्याये च एव, होममन्त्रेषु च एव, अनध्याये अनुरोधः न अस्ति।

शब्दार्थ—वेदोपकरणे—वेदों के उपकारक वेदाङ्गों के अध्ययन में, अनध्याये—अध्ययन का व्यतिक्रम, अनुरोध—आग्रह।

हिन्दी अर्थ—वेदांग अध्ययन, नित्य अनुष्ठेय ब्रह्मयज्ञ रूप स्वाध्याय में तथा अग्निहोत्रादि होममन्त्रों में अनध्याय (अवकाश) का विचार नहीं है।

संस्कृत व्याख्या—वेदोपकरणे—वेदस्य उपकरणं तस्मिन् वेदाङ्गे, चैव, नैत्यिके—नित्ये भवः नैत्यकः, तस्मिन्, दैनिकपाठे, स्वाध्याये—वेदाध्ययने ब्रह्मयज्ञे वा, चैव, होममन्त्रेषु—होमस्य मन्त्राः होममन्त्राः तेषु अग्निहोत्रादि होमार्थं निर्धारित-मन्त्रेषु, अनध्याये—अध्ययनाभावे, अनुरोधः—आग्रहः, नास्ति—न कर्त्तव्यः।

विशेष—वेदोपकरणे वेदांग—'षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'—महाभाष्य, प्रथम आह्निक (हत) वेदार्थ के सम्यक् अवबोधन के लिए, स्वरादि के सुचारु अवगमन के लिए, मन्त्रविनियोग के समुचित ज्ञान के लिए, काल के सुष्ठु निर्धारण के लिए वेद के सहायक रूप में षडंग साहित्य की रचना हुई। संख्या में छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥

—पाणिनीय शिक्षा, ४१.४२

अनध्याये—सभी आश्रमों में वेदाध्ययन ब्रह्मयज्ञ है, शतपथ ब्राह्मण ११.५.६.९ ने उन अनेक स्थितियों का, यथा—बिजली की चमक, अन्धड़, मेघगर्जन एवं वज्रपात, वर्णन, किया है जिनमें अनध्याय होता है किन्तु (पर्व को छोड़कर) अधीत वेद पाठों की पुनरावृत्ति का क्रम बाधित नहीं होने दिया जाता है। अनध्याय अर्थात् विराम या अवकाश सामान्यतः साठ घटिकाओं अर्थात् पूरे २४ घण्टे का होता है।

वस्तुतः वैदिक अध्ययन अर्थात् मन्त्रों को स्मरण करना मनोयोग पर निर्भर है, अतः मन को चञ्चल कर देने वाले अवसरों में वेदाध्ययन के अनध्याय की चर्चा समुचित है। स्मृति पटल पर अङ्कित ज्ञान को दुहराने तथा होम, जप आदि में उतने मनोयोग की आवश्यकता नहीं, अतः ऐसे अवसरों पर अनध्याय को महत्त्व नहीं दिया गया है। —धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे पृष्ठ २६०

अनध्याय का अभाव—

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत्स्मृतम्।
ब्रह्माहुतिहुतं पुण्यमनध्यायवषट्कृतम् ॥१०६॥

अन्वय—नैत्यके अनध्यायः न अस्ति, हि तद् ब्रह्मसत्रं स्मृतम्। ब्रह्माहुतिहुतम् अनध्यायवषट्कृतं पुण्यम्।

शब्दार्थ—ब्रह्मसत्र—वेदपाठ रूप यज्ञ, ब्रह्माहुतिहुतं—वेदमन्त्रों द्वारा प्रदत्त आहुति, वषट्कृतं—वषट्पूर्वक मन्त्रोच्चारण।

हिन्दी अर्थ—दैनिक स्वाध्याय में अनध्याय नहीं होता है क्योंकि उसका स्मरण ब्रह्मयज्ञ के रूप में किया गया है। वेदमन्त्रों द्वारा प्रदत्त आहुति तथा अनध्याय में किया गया वषट् उच्चारण पुण्यप्रद है।

संस्कृत व्याख्या—नैत्यके—नित्यानुष्ठेये वेदाध्ययनरूप—ब्रह्मयज्ञे, अनध्यायः अध्ययनविरामः—नास्ति, हि—यतः, तद् ब्रह्मसत्रं सतत प्रवृत्तं सत्रं, वेदपाठरूप यज्ञं; स्मृतं—कथितं, ब्रह्माहुतिहुतं—ब्रह्मैव आहुतिः तया हुतं, ब्रह्मैव आहुतिः तस्यां हुतं वा, वेदाहुतिप्रक्षिप्तं; अनध्याय—वषट्कृतं—अनध्याये वषट्कृतम् इति, अध्ययनावकाशे वषडुच्चारणं, पुण्यं—पुण्यदायकमेवास्ति।

विशेष—ब्रह्मसत्रम्—अविच्छिन्न रहकर निरन्त चलने वाली वेद की स्वाध्याय प्रक्रिया ब्रह्मसत्र कहलाती है।

वषट्—'देवोद्देश्यकहविस्त्यागमन्त्रः इत्यमरः'—'वषट्' शब्द का उच्चारण देवता के लिए आहुति देते समय किया जाता है। घन-गर्जन एवं विद्युत ब्रह्मयज्ञ के वषट्कार कहे जाते हैं। जिस प्रकार 'वषट्' शब्द के उच्चारण के साथ आहुति दी जाती है, उसी प्रकार घन-गर्जन के साथ ब्रह्मयज्ञ के रूप में किसी-न-किसी वैदिक मन्त्र का पाठ करते रहना चाहिए। —धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे. पृष्ठ २५८

स्वाध्याय इष्टप्रद—

य: स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचि ।
तस्य नित्यं क्षरत्येषु पयो दधि घृतं मधु ॥१०७॥

अन्वय—यः नियतः शुचिः अब्दं विधिना स्वाध्यायमधीते, तस्य एषः नित्यं पयः दधि घृतं मधु क्षरति ।

शब्दार्थ—अब्दं—वर्षपर्यन्त, एषः—वेद, वेदांगों का स्वाध्याय, पयः—दूध, क्षरति—स्रवित होता है ।

हिन्दी अर्थ—जो पुरुष नियम से पवित्र होकर एक वर्षपर्यन्त विधिपूर्वक वेद का अध्ययन करता है उसके लिए वेदाध्ययन नित्यप्रति दूध, दही, घी व मधु प्रदान करता है ।

संस्कृत व्याख्या—यः—जनः, नियतः—नियमेन जितेन्द्रियः ना, शुचिः—पवित्रबाह्याभ्यन्तरः, अब्दं—एकवर्षं, विधिना—शास्त्रोक्तरीत्या, स्वाध्यायं—वेदाध्ययनं, अधीते—पठति, तस्य—पुरुषस्य, एषः—वेदवेदाङ्गाध्ययनं, नित्यं—सर्वदा, पयः—दुग्धं, दधि—दुग्धविकारं, घृतं—सर्पिः, मधु—मिष्ठपदार्थं, क्षरति—प्रस्रवति ।

विशेष—वेदों को जानने वाला विद्वान् ब्राह्मण यशस्वी होता है फलतः दान रूप में गौ तथा गौ से पयस् आदि प्राप्त करता है । अथवा समग्र वेदों के अध्ययन से चारों पुरुषार्थों को एक वर्ष में प्राप्त करता है क्योंकि पयस् शुद्धि लक्षण से धर्म के समान, दधि पुष्टि लक्षण से अर्थ के समान, घृत स्नेह लक्षण से काम के समान तथा मधु रस रूप लक्षण से मोक्ष के समान है । अथवा स्वाध्याय ही पयस् दधि, घृत, मधु रूप है । अथवा वेदविहित कर्मों से तृप्त हुए देव व पितृ गण दुग्ध, दधि, घृत, मधु के (सदृश पद, धन, हर्ष एवं स्वतन्त्रता में) शुभेच्छा, रूप फल को प्रदान करते हैं—

'मधुना पयसा चैव स देवांस्तर्पयेत् द्विजः ।
पितृन्मधुघृताभ्यां च ऋचोऽधीते हि योऽन्वहम् ॥
ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः ॥

—याज्ञवल्क्य स्मृति २-४१, ४७

प्रजापति ब्रह्मा ने कल्प के आदि में यज्ञसहित प्रजाओं को रचकर उनसे कहा कि तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और वे तुम्हें उन्नत करें, इस प्रकार परस्पर उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त करो—

'देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' ॥'

— श्रीमद्भगवद्गीता ३.११

समावर्तनपर्यन्त होमादि—

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधःशय्यां गुरोर्हितम् ।
आसमावर्तनात्कुर्यात्कृतोपनयनो द्विजः ॥१०८॥

अन्वय—कृतोपनयनः द्विजः आसमावर्तनात् अग्नीन्धनं, भैक्षचर्याम् अधः शय्यां गुरोः हितं कुर्यात् ।

शब्दार्थ—अग्नीन्धनं—समिद्धोम, अधः शय्यां—भूमिशयन ।

हिन्दी अर्थ—उपनयन संस्कार से संस्कृत द्विज समावर्तन संस्कारपर्यन्त समिधा से अग्नि में आहुति, भिक्षावृत्ति, भूमिशयन तथा गुरु के लिए (जलानयनादि) हितकर कार्य करे ।

संस्कृत व्याख्या—कृतोपनयनः—कृतम् उपनयनं यस्य सः, विहितोपवीत संस्कारः; द्विजः—ब्राह्मणबटुः, आसमावर्तनात्—समावर्तनसंस्कारकालपर्यन्तं, अग्नीन्धनं—अग्नौ इन्धनाहुति समिद्धोमं, भैक्षचर्यां—भिक्षाणां समूहः भैक्षं तस्य चर्यां, तां भिक्षाटनं; अधः शय्यां—भूशयनं, गुरोः—आचार्यस्य, हितं—चरण-प्रक्षालनादि सेवाकार्यं, कुर्यात्—विदधीत ।

विशेष—समावर्तन संस्कार—वेदाध्ययन के उपरान्त गुरु-गृह से लौटते समय का संस्कार स्नान या समावर्तन, कहा जाता है—'तत्र समावर्तनं नाम वेदाध्ययनान्तरं गुरुकुलात् स्वगृहागमनम्—वीरमित्रोदय संस्कारप्रकाश, पृष्ठ ५६४। विद्यासागर में स्नान कर लेने वाले स्नातकों के तीन प्रकार थे—प्रथम—व्रतस्नातक, जो अपना व्रत तो पूर्ण कर चुकते थे किन्तु विद्या अपूर्ण रह जाती थी। द्वितीय—विद्यास्नातक, जो विद्या सम्पूर्ण कर लेते, थे किन्तु ब्रह्मचर्य अपूर्ण रह जाता था। तृतीय—वे सर्वोत्कृष्ट विद्यार्थी—विद्याव्रत स्नातक जो अध्ययन एवं व्रत दोनों को समाप्त कर लेते थे—'त्रयः स्नातका भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रत-स्नातक इति—पारस्कर गृह्यसूत्र २-५-३३ आश्रम से विदा होते समय गुरु को अपनी सामर्थ्यानुसार भेंट प्रदान करना इस संस्कार का महत्त्वपूर्ण कृत्य था। संस्कार सम्पन्न स्नातक विशेष सम्मान का पात्र था—'महद्वै एतद् भूतं यत् स्नातकः'—आश्वलायन गृह्यसूत्र ३.९.८ ।

भैक्षचर्या—शतपथब्राह्मण ११.३.३.७ के अनुसार स्नान कर्म के उपरान्त भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए ।

अधःशय्या—पतञ्जलि महाभाष्य प्रथम आह्निक में उल्लेख है कि शिष्य स्नान कर्म के पश्चात् गुरु की अनुज्ञा से शयन के लिए पलंग का प्रयोग कर सकता है ।

अध्यापन योग्य शिष्य—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥१०६॥

अन्वय—आचार्यपुत्रः, शुश्रूषुः, ज्ञानदः, धार्मिकः, शुचिः, आप्तः, शक्तः, अर्थदः साधुः, स्वः (एते) दश धर्मतः अध्याप्याः ।

शब्दार्थ—शुश्रूषुः—सेवक, आप्तः—विश्वस्त, शक्तः—समर्थ, अर्थदः—धनप्रदाता ।

हिन्दी अर्थ—आचार्यपुत्र, परिचारक, ज्ञानदाता, धर्मात्मा, पवित्र, विश्वस्त, विद्या-ग्रहण में समर्थ, धनप्रदाता, सत्पुरुष एवं बान्धव—धर्मशास्त्र की दृष्टि से ये दस पढ़ाने योग्य हैं ।

संस्कृत व्याख्या—आचार्यपुत्रः—आचार्यस्य पुत्रः, गुरु—सुतः, शुश्रूषुः—सेवकः, ज्ञानदः—ज्ञानं ददातीति, ज्ञानदायकः, धार्मिकः—धर्मतत्परः, शुचिः—पवित्रात्मा, आप्तः—विश्वस्तः, शक्तः—पाठग्रहणे समर्थः, अर्थदः—धनप्रदाता, साधुः—सत्पुरुषः, स्वः—स्वजनः, एते दश, धर्मतः—धर्मशास्त्रदृष्ट्या, अध्याप्याः—पाठनीयाः ।

विशेष—धर्मतः—इन दसों प्रकार के शिष्यों के मध्य अध्यापन कार्य करते समय गुरु का उद्देश्य धर्म हो न कि अर्थ संग्रह ।

अध्याप्याः—सभी प्रकार के दानों से ब्रह्मदान विशेष फल का हेतु है—'सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते' ।

—मनुस्मृति, ४.२३३

कृतज्ञ, गुरु से घृणा न करने वाला, स्वस्थ तथा व्यर्थ का छिद्रान्वेषण न करने वाला । इन गुणों का समावेश भी शिष्य में होना चाहिए ।

—याज्ञवल्क्य स्मृति, १.२८

प्रश्न के बिना उपदेश निषेध—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥११०॥

अन्वय—जानन्नपि हि मेधावी अपृष्टः अन्यायेन च पृच्छतः कस्यचित् न ब्रूयात्, लोके जडवत् आचरेत् ।

शब्दार्थ—अपृष्टः—न पूछे जाने पर, अन्यायेन—अत्याचारपूर्वक, जडवत्—निश्चेष्ट ।

हिन्दी अर्थ—ज्ञानतत्त्व को जानता हुआ भी विद्वान् पुरुष बिना पूछे किसी से न कहे, अन्याय से (श्रद्धा-भक्ति का त्याग कर) पूछने पर उत्तर न दे, (ऐसी दशा में) संसार में जड़ के समान आचरण करे ।

संस्कृत व्याख्या—जानन्नपि—ज्ञानवानपि, हि, मेधावी—बुद्धिमान्पुरुषः, अपृष्टः—न पृष्टः, जिज्ञासाभावे, अन्यायेन—असभ्याचरणेन, च, पृच्छतः—प्रश्नं कुर्वतः, कस्यचित्—कमपि पुरुषं प्रति, न, ब्रूयात्—भाषयेत्, लोके—संसारे, जडवत्—मूकं मूर्खसदृशं वा, आचरेत्—व्यवहरेत् ।

विशेष—अपरिचित शिष्य से अशुद्ध अल्पाक्षर अथवा विकृत पाठ सुन कर भी उसके पूछे बिना उसे न टोके किन्तु अपने शिष्य को न पूछने पर भी बताए । डरा धमका कर पूछने वाले शिष्य को न बताए, विनम्र स्वर में प्रार्थना करने वाले शिष्य को अवश्य बताए । सम्भवतः यह केवल शास्त्रीय चर्चा है अन्यथा व्यवहार में तो नियम है कि धर्मज्ञातापुरुष चाहे वह राजा द्वारा नियुक्त हो अथवा अनियुक्त, को अवश्य बताए ।

निषेध न मानने का परिणाम—

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥१११॥

अन्वय—यः च अधर्मेण प्राह, यः च अधर्मेण पृच्छति, तयोः अन्यतरः प्रैति विद्वेषं वा अधिगच्छति ।

शब्दार्थ—अन्यतरः—एक, प्रैति—मृत्यु को प्राप्त करता है, विद्वेषं—शत्रुता को ।

हिन्दी अर्थ—अधर्म से पूछने पर जो कहता है अथवा जो अधर्म से पूछता है उन दोनों में से एक की मृत्यु हो जाती है अथवा परस्पर विरोध हो जाता है ।

संस्कृत व्याख्या—यः—मानवः, च, अधर्मेण—धर्मोलङ्घितेन, प्राह—वदति, यः—मानवः, च, अधर्मेण—धर्मातिक्रमणेन, पृच्छति—जिज्ञासां करोति, तयोः—द्वयोः, अन्यतरः—एकः उल्लङ्घनकर्ता, प्रैति—मृतसदृशः भवति, तेन सह, विद्वेषं—मात्सर्यभावनां, वा, अधिगच्छति—वर्द्धयति ।

विशेष—प्रैति—वेदपुण्य रूप फल से च्युत होता है—राघवानन्द ।

विद्यादान के अनधिकारी—

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥११२॥

अन्वय—यत्र धर्मार्थौ न स्यातां, तद्विधा शुश्रूषा अपि वा, तत्र ऊषरे शुभं बीजम् इव विद्या न वक्तव्या ।

शब्दार्थ—धर्मार्थौ—धर्म और अर्थ, तद्विधा—समुचित, ऊषरे—अनुपजाऊ भूमि में ।

हिन्दी अर्थ—जिस शिष्य में धर्म तथा अर्थ का अभाव है अथवा शिक्षानुसार सेवावृत्ति का भी अभाव है ऐसे पात्र में अनुर्वर भूमि में उत्कृष्ट बीज (वपन) के समान विद्यादान न करे।

संस्कृत व्याख्या—यत्र—यस्मिन् शिष्ये, धर्मार्थौ—धर्मश्च अर्थश्च तौ, न, स्यातां—भवेतां, तद्विधा—अध्ययनानुरूपा, शुश्रूषा—परिचरितुमिच्छा अपि वा नास्ति, तत्र—तस्मिन् शिष्ये, ऊषरे—अनुर्वरभूमौ, शुभं—उत्कृष्टं, बीजं—यवादिकं, इव, विद्या—शास्त्रज्ञानं, न, वक्तव्या—उपदेष्टव्या।

विशेष—धर्म, अर्थ तथा गुरु सेवा, विद्या अर्थात् अर्थावबोध में विनिमय स्वरूप हैं। विद्यादान के प्रतिदान में जीविका हेतु धनग्रहण वेतन कहलाता है।

—मेधातिथि

तथापि गुरु को पदार्थ प्राप्ति का लेशमात्र भी लोभ नहीं होना चाहिए—

'न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित्'। —मनुस्मृति, २.२४५

अपात्र शिष्य को विद्यादान निषेध—

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥११३॥

अन्वय—ब्रह्मवादिना विद्यया समं कामं मर्त्तव्यं हि घोरायाम् अपि आपदि एनाम् इरिणे तु न वपेत्।

शब्दार्थ—कामं—भले ही, घोरायां—भयंकर, एनां—विद्या को, इरिणे—ऊषर भूमि में।

हिन्दी अर्थ—वेदज्ञ विद्वान् विद्या के साथ भले ही मर जाए किन्तु भयंकर आपत्ति में भी अनुर्वर भूमि में न बोए गए बीज के समान अपात्र शिष्य को विद्यादान न करे।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मवादिना—ब्रह्मवदतीति ब्रह्मवादी तेन, वेदाध्यापकेन; विद्यया—ज्ञानेन, समं—सह, कामं—यथोचितं, मर्त्तव्यं—प्राणत्यागः कर्त्तव्यं, हि—यतः, घोरायां—कृच्छ्रायां, आपदि—विपदि, एनां—विद्यां, इरिणे—ऊषरे भूमौ, तु न, वपेत्—प्रतिपादयेत्।

विशेष—आपदि—आपत्ति काल अर्थात् शिष्यों के नितान्त अभाव में अथवा धन के नितान्त अभाव में अथवा दुर्भिक्ष आदि उपद्रवों में भी अयोग्य अथवा जिज्ञासा-हीन विद्यार्थी के प्रति विद्यादान न करे।

छान्दोग्य ब्राह्मण का वाक्य इसी मन्तव्य को अभिव्यक्त करता है—'विद्यया सार्धं म्रियेत, न विद्यामूषरे वपेत्'।

विद्वान् पुरुष सामान्य परिस्थितियों में अपने ज्ञान को शिष्यों के मध्य अवश्य वितरित करे—ब्यूहलर। प्रसिद्ध है—

'अपूर्वः कोऽपि कोशोऽयं विद्यते तव भारति ।
व्ययतो वृद्धिमायाति क्षयमायाति संचयात् ।।'

विद्या की प्रार्थना—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ।।११४।।

अन्वय—विद्या ब्राह्मणम् एत्य आह—(अहं) ते शेवधिः अस्मि, मां रक्ष, मां असूयकाय मा अदाः, तथा वीर्यवत्तमा स्याम् ।

शब्दार्थ—एत्य—समीप आकर, शेवधिः—कोष, असूयकाय—ईर्ष्याभाव परिपूर्ण, अदाः—प्रदान करना ।

हिन्दी अर्थ—विद्या ब्राह्मण के समीप आकर बोली—मैं तुम्हारी निधि हूँ, मेरी रक्षा करना, मुझे निन्दक के लिए दान न करना, उस प्रकार मैं अत्यन्त वीर्यवती रहूँगी ।

संस्कृत व्याख्या—विद्या—विद्याधिष्ठात्री देवी सरस्वती, ब्राह्मणं—अध्यापकं, एत्य—आगत्य, आह—अवदत्, अहं, ते—तव, शेवधिः—निधिः, अस्मि, मां—विद्यां, रक्ष—रक्षां कुरु, मां, असूयकाय—असूयां करोतीति असूयकः, तस्मै, निन्दकाय गुणेषु दोषारोपणकारकाय वा; मा अदाः—न देहि, तथा—तेन प्रकारेण, वीर्यवत्तमा—बलवत्तमा, स्यां—भवेयम् ।

विशेष—शब्दवैभिन्य से यही प्रार्थना छान्दोग्य ब्राह्मण में उपलब्ध है—'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, तवाहमस्मि, त्वं मां पालय, अनर्हते मानिने चैव माऽदाः, गोपाय मां, श्रेयसी तथाहमस्मि' इति । तैत्तिरीय उपनिषद् भी लगभग इसी रूप में अधिकारी के गुणों को प्रस्तुत करता है—

एतद् गुह्यतमं नापुत्राय नाशिष्याय कीर्तयेदनन्यभक्ताय सर्वगुणसम्पन्नाय दद्यात्' ।

विद्या की प्रार्थना—

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतं ब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ।।११५।।

अन्वय—यम एव तु शुचिं नियतं ब्रह्मचारिणं विद्यात्, तस्मै निधिपाय अप्रमादिने विप्राय मां ब्रूहि ।

शब्दार्थ—शुचि—देह तथा मन से पवित्र, ब्रह्मचारी—कामवासना शून्य, निधिपाय—कोषप्रहरी, कुशाग्र स्मरण शक्ति सम्पन्न, अप्रमादिने—सावधान के लिए अभ्यासशील ।

हिन्दी अर्थ—जिसे तुम पवित्र संयतेन्द्रिय अथवा नियमपालक (जितेन्द्रिय) ब्रह्मचारी समझो, उस विद्यारूपिणी निधि के रक्षक, अप्रमादी ब्राह्मण के लिए मेरा उपदेश करना।

संस्कृत व्याख्या—यं—विप्रं, एव तु, शुचि—पवित्रबाह्याभ्यन्तरं, नियतब्रह्मचारिणं—नियतं ब्रह्मचरितुं शीलमस्येति नियतब्रह्मचारी, तं—जितेन्द्रियं, नियमेन वा ब्रह्मचर्यरक्षकं; विद्याः—अवेहि, तस्मै—पूर्वोक्ताय, निधिपाय—निधि पातीति निधिपः, विद्या—कोषरक्षकाय, अप्रमादिने—दत्तचित्ताय, विप्राय—द्विजाय, मां—विद्यां, ब्रूहि—उपदेशय।

विशेष—उपनिषद् में श्लोक का समान रूप इस प्रकार है—

'यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥'

—मुक्तिकोपनिषद्, १.५१

उपर्युक्त दोनों मन्त्र निरुक्त २.४ में 'चार विद्यासूक्तों' के नाम से वर्णित हैं। अल्प परिवर्तन के साथ वशिष्ठ धर्मसूत्र, २.१४-१७ में भी उपलब्ध हैं। ब्लूमफील्ड ने 'वैदिक कानकोरडेन्स' नामक कोष में उपर्युक्त श्लोकों का स्रोत सामवेद के संहितोपनिषद् ब्राह्मण को माना है।

वेदाध्ययन में अनुज्ञा आवश्यक—

ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्।
स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते॥११६॥

अन्वय—यः तु अधीयानात् अननुज्ञातं ब्रह्म अवाप्नुयात्, ब्रह्मस्तेयसंयुक्तः स नरकं प्रतिपद्यते।

शब्दार्थ—अधीयानात्—वेदाभ्यास करते हुए, अवाप्नुयात्—प्राप्त कर ले, ब्रह्मस्तेय—वेद की चोरी।

हिन्दी अर्थ—जो ब्रह्मचारी स्व-अभ्यासार्थ वेदाध्ययन करते हुए अथवा अध्यापन काल में अध्यापक की अनुमति के बिना ही वेद को ग्रहण कर लेता है, वेद की चोरी का दोषी वह नरक अर्थात् महान् कष्ट का भागी होता है।

संस्कृत व्याख्या—यः—माणवकः, तु, अधीयानात्—अधीयते अस्मादित्यधीयानः, तस्मात्, स्व-अभ्यासार्थं अध्ययनं कुर्वतः गुरोः, कश्चिद् शिष्यम् अध्यापयतः वा गुरोः; अननुज्ञातं—न अनुज्ञातं विना अनुमतिं, ब्रह्म—वेदं, अवाप्नुयात्—पठेत्, ब्रह्मस्तेयसंयुक्तः—ब्रह्मणः स्तेयः, तेन संयुक्तः, वेदचौर्यसमन्वितः; सः—द्विजातिः, नरकं—अधोगतिं, प्रतिपद्यते—प्राप्नोति।

विशेष—अधीयानात्—आख्यातोपयोगे—अष्टाध्यायी, १.४.२९ । उपाध्याय से नियमपूर्वक विद्या स्वीकार करने के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति है। अथवा ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च-वार्त्तिक । अन्य को पढ़ाते हुए वेद को सुनकर—इस अर्थ में ल्यप् प्रत्यय के लोप में कर्म में पञ्चमी विभक्ति है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति का आधार था—शिक्षक । अध्ययन में उसकी अनुमति की प्रधानता से उसका पद स्वतः उच्च एवं महान् हो गया था। महाभारत, अनुशासन पर्व, ३६.१५ में उल्लेख है कि (बिना गुरु के) घर पर वेद पढ़ने वाला निन्दास्पद है।

प्रथम अभिनादन गुरु को—

लौकिकं वैदिकं वापि तथाध्यात्मिकमेव च ।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥११७॥

अन्वय—यतः लौकिकं, वैदिकं वाऽपि तथा आध्यात्मिकम् एव च ज्ञानम् आददीत, तं पूर्वम् अभिवादयेत् ।

शब्दार्थ—लौकिक—व्यावहारिक, वैदिकं—शास्त्रीय, आध्यात्मिक—ईश्वर सम्बन्धी, अभिवादयेत्—प्रथम सम्भाषण करे।

हिन्दी अर्थ—जिस आचार्य से सांसारिक (संगीत, चित्रकला, वाणिज्य आदि) अथवा वैदिक (वेद, वेदाङ्ग, स्मृति आदि) तथा आध्यात्मिक (आत्म विद्या) ज्ञान प्राप्त करे, उस आचार्य को सर्वप्रथम प्रणाम करे।

संस्कृत व्याख्या—यतः—यस्मात् शिक्षकात्, लौकिकं—लोके भवं, अर्थशास्त्रादिविषयकाभ्युदयिकज्ञानं, वैदिकं—यागादिविषयकवेदविज्ञानं, वा अपि तथा, आध्यात्मिकं—आत्मनि इति अध्यात्मं, तत्र भवं, आत्मपरमात्मविषयकब्रह्मज्ञानं, आददीत—गृह्णीत, तं—आचार्यं, पूर्वं—प्रथमं, अभिवादयेत्—प्रणमेत् ।

विशेष—अभिवादन विधि—नमस्कार की मुद्रा में झुकने के साथ ही 'अभिवादयेऽहम्' आदि कह कर सम्मान प्रकट करना अभिवादन है। ब्राह्मण को अपनी दाहिनी बाहु कान के सीध में फैला कर, क्षत्रिय को छाती तक, वैश्य को कमर तक, शूद्र को पैर तक, जुड़े हुए दोनों हाथ फैला कर अभिवादन करना चाहिए।

—आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.२.५.१६-१७

'जन्मप्रभृति यत्किञ्चिच्चेतसा धर्ममाचरेत् ।
तत्सर्वं विफलं ज्ञेयमेकहस्ताभिवादनात् ॥८॥

(मानव) जन्म से लेकर, चित्त से अर्थात् लगनपूर्वक जो कुछ भी यज्ञानुष्ठान करता है, एक हाथ से अभिवादन करने से वह सब निष्फल हो जाता है।

संयम असंयम तुलना—

सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः ।
नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥११८॥

अन्वय—सावित्रीमात्रसारः अपि सुयन्त्रितः विप्रः वरम्, अयन्त्रितः सर्वाशी सर्वविक्रयी त्रिवेदः अपि न (वरम्) ।

शब्दार्थ—सावित्रीमात्रसारः—गायत्री मन्त्र को जानने वाला, सर्वाशी—सब कुछ खाने वाला, अयन्त्रित—संयम रहित ।

हिन्दी अर्थ—गायत्री मात्र का ज्ञाता, सदाचारी ब्राह्मण श्रेष्ठ है किन्तु आचारविहीन, सर्वस्व भक्षण करने वाला, सर्वस्व विक्रय करने वाला, तीनों वेदों का ज्ञाता ब्राह्मण श्रेष्ठ नहीं है ।

संस्कृत व्याख्या—सावित्रीमात्रसारः—सावित्री एव सावित्रीमात्रः, स सारः यस्य सः, गायत्रीमात्रानुष्ठानसमर्थः; अपि, सुयन्त्रितः—शास्त्रादिष्टनियमपरिपालकः, विप्रः—द्विजः, वरं—श्रेष्ठः, अयन्त्रितः—आचारहीनः, सर्वाशी—सर्वान् अश्नातीति, सर्वपदार्थभोजी, निषिद्धभोजनपरः इत्यर्थः; सर्वविक्रयी—सर्वान् विक्रेतुं शीलमस्येति, वर्जितपदार्थविक्रेता; त्रिवेदः—वेदत्रयवेत्ताऽपि; न—न वरम् ।

विशेष—वरम्—'विप्रः वरः' पाठ होना चाहिए था, वरं क्यों कर प्रयुक्त हुआ ? सम्भवतः 'वरमेतत्' अर्थात् श्रेष्ठता प्रतिपादन के निमित्त से अथवा नियमित-लि. वर शब्द के नपुंसकलिंग होने से ऐसा प्रयोग हुआ है । —मेधातिथि

ब्राह्मण के ऊपर उपर्युक्त नियन्त्रणों का उद्देश्य था उन्हें स्वार्थबुद्धि, अकरुण व्यवहार एवं धन संचय से दूर रख कर सरल जीवन का अभ्यस्त बनाना, जिससे प्राचीनतया भारतीय संस्कृति का अध्ययन, रक्षण एवं परिवर्धन सुचारु रूप से हो सके ।

—महर्षि मनु के अनुसार

ब्राह्मण की जीवित मृत्यु के चार कारण हैं—वेदों का अभ्यास न करना, सदाचार का त्याग, आलस्य एवं अभक्ष्य का भक्षण—

'अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥'

—मनुस्मृति, ५.४

श्रेष्ठजनों के प्रति आचरण—

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।
शय्यासनस्थश्चैवेनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥११९॥

अन्वय—श्रेयसा अध्याचरिते शय्यासने न समाविशेत्, शय्यासनस्थः एव च एनं प्रत्युत्थाय अभिवादयेत् ।

शब्दार्थ—श्रेयसा—श्रेष्ठ जन द्वारा, अध्याचरिते—अध्यारूढ़ होने पर, एनं—ज्येष्ठ को ।

हिन्दी अर्थ—श्रेष्ठजनों द्वारा प्रयुक्त शय्या तथा आसन पर न बैठे, यदि शय्या तथा आसन पर स्वयं बैठा हो तो ज्येष्ठ पुरुषों को उठ कर प्रणाम करे ।

संस्कृत व्याख्या—श्रेयसा—ज्ञानाधिकेन पूज्यजनेन, अध्याचरिते अधिष्ठिते, शय्यासने—शय्यां च आसनं च शय्यासनं, तस्मिन्, पर्यङ्कासने; न, समाविशेत्—उपविशेत्, शय्यासनस्थः—शय्या च आसनं च शय्यासनं, तत्र तिष्ठतीति, शय्यासनस्थितः; एनं—गुरुजनं, प्रत्युत्थाय—सविनयं शिष्टाचारं प्रदर्शयन् अग्रेगत्वा, अभिवादयेत्—प्रणमनं कुर्यात् ।

विशेष—पुरुष विशेष के स्वागत में अभिमुख्य रूप में वार्तालाप—अभिवादन तथा अपने आसन को छोड़ कर उठना—प्रत्युत्थान है, यह अभिवादन के पूर्व विहित है । शय्यासने—शय्या च आसनं च, तयोः समाहारः 'जातिरप्राणिनाम्' ।

—(अष्टा० २/४/६) से द्वन्द्व-एकवद्भाव

वृद्ध प्रणाम के हेतु—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥१२०॥

अन्वय—स्थविरे आयति यूनः प्राणाः ऊर्ध्वं हि उत्क्रामन्ति, प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां तान् पुनः प्रतिपद्यते ।

शब्दार्थ—स्थविरे—वृद्ध जनों के, आयति—आने पर, उत्क्रामन्ति—उठते हैं, प्रतिपद्यते—प्रतिष्ठित करता है ।

हिन्दी अर्थ—वृद्धजनों के आने पर युवाजनों के प्राण उत्क्रमण करते हैं, अभ्युत्थान तथा अभिवादन के द्वारा वह उन्हें पुनः ठीक कर लेता है ।

संस्कृत व्याख्या—स्थविरे—आयुर्ज्ञानवृद्धे, आयति—समागते सति, यूनः—युवजनस्य अल्पवयसः वा, प्राणाः—असवः, ऊर्ध्वं—उपरि, हि, उत्क्रामन्ति—गच्छन्ति, प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां—प्रत्युत्थानं च अभिवादनं च प्रत्युत्थानाभिवादने, ताभ्यां, स्वागतप्रणामाभ्यां; तान्—प्राणान्, पुनः—भूयः, प्रतिपद्यते—यथास्थानं करोति ।

विशेष—प्रस्तुत विधान शिष्य को भयभीत कर सम्मान शिक्षा देने के लिए है । अनाचारपूर्ण व्यवहार से व्यक्ति की आयु क्षीण होती है, इस क्षीणता को दूर करने के उपाय हैं—प्रत्युत्थान तथा अभिवादन ।

वृद्ध प्रणाम से लाभ—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥१२१॥

अन्वय—नित्यम् अभिवादनशीलस्य वृद्धोपसेविनः तस्य आयुः विद्या यशः बलं चत्वारि वर्धन्ते।

शब्दार्थ—वृद्धोपसेविनः—वृद्धजनों की सेवा, वर्धन्ते—बढ़ते हैं।

हिन्दी अर्थ—प्रतिदिन वृद्धजनों का अभिवादन एवं सेवा करने वाले मनुष्य की आयु, विद्या, यश और बल चारों की वृद्धि होती है।

संस्कृत व्याख्या—नित्यं—प्रतिदिनं, अभिवादनशीलस्य—अभिवादनं शीलं यस्य सः तस्य, प्रणामपरस्य; वृद्धोपसेविनः—वृद्धान् उपसेवितुं शीलं यस्य सः तस्य, ज्येष्ठशुश्रूषापरायणस्य; तस्य—पुरुषस्य, आयुः—वयः, विद्या—ज्ञानं, यशः—कीर्तिः, बलं—शक्तिः, चत्वारि, वर्धन्ते—एधन्ते।

विशेष—सम्मान में किया गया अभिवादन तीन प्रकार का है—

नित्य—रात्रि के अन्तिम प्रहर में गुरु को प्रतिदिन किया जाने वाला प्रणाम।

नैमित्तिक—विशिष्ट अवसरों यथा यागादि पर करने योग्य प्रणाम।

काम्य—किसी विशिष्ट अभिलाषा पूर्ति हेतु किया जाने वाला प्रणाम। चिरायुत्व की आशा से अथवा कल्याण के विस्तार के लिए अल्पायु द्वारा इसी प्रकार का प्रयोग समीचीन है।

—धर्मशास्त्र का इतिहास, पी० वी० काणे, पृष्ठ २३७

अभिवादन विधि—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन्।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥१२२॥

अन्वय—ज्यायांसम् अभिवादयन् विप्रः अभिवादात्परम् अहम् असौ नामा अस्मि इति स्वं नाम परिकीर्तयेत्।

शब्दार्थ—ज्यायांसं—वृद्धजनों को, स्वं—अपना, परिकीर्तयेत्—प्रस्तुत करे।

हिन्दी अर्थ—वृद्धजनों को प्रणाम करता हुआ ब्राह्मण (आदि तीनों वर्ण) अभिवादन के पश्चात् 'अमुक नाम वाला मैं हूँ', इस प्रकार अपने नाम का कथन करे।

संस्कृत व्याख्या—ज्यायांसं—स्वस्मात् ज्येष्ठं, अभिवादयन्—प्रणमन्, विप्रः—ब्राह्मणादिः, अभिवादात्परं—प्रणामानन्तरं, 'असौ नामाः अहम् अस्मि'

(अभिवादयेऽमुक नामाहम् अस्मि) इति—एवंप्रकारेण, स्वं नाम—आत्माभिधानं, परिकीर्तयेत्—उच्चारयेत् ।

विशेष—प्रत्यभिवादन में नामोच्चारण के नियम (मनुस्मृति २.१२५) की सुविधा के लिए विभिन्न धर्मसूत्रों ने अभिवादन में स्वनाम कथन की व्यवस्था दी है—

'स्वनाम प्रोच्याहमभिवादय इत्यभिवदेत्' ।

—गौतम धर्मसूत्र, ६.१

'असावहं भो इत्यात्मनो नामादिशेत्' ।

—शांखायन

स्वनाम एवं गोत्रोल्लेखपूर्वक किया गया यह अभिवादन उपासङ्ग्रहण कहलाता है, इसमें कानों को छू कर प्रणम्य के चरणों को शिर नमनपूर्वक छूने का विधान है ।

—धर्मशास्त्र का इतिहास, पी० वी० काणे, पृष्ठ २३७

अभिवादन विधि के अनभिज्ञों की अभिवादन विधि—

नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ।
तान्प्राज्ञोऽहमिति ब्रूयात्स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥१२३॥

अन्वय—ये केचित् नामधेयस्य अभिवादं न जानते, तान् तथा एव सर्वाः स्त्रियः च प्राज्ञः अहम् इति ब्रूयात् ।

शब्दार्थ—नामधेयस्य—नामोच्चारणपूर्वक, अभिवादं—अभिवादन विधि को ।

हिन्दी अर्थ—जो (संस्कृत ज्ञानहीन) व्यक्ति नामोच्चारणपूर्वक अभिवादन विधि को नहीं जानते हैं, उनको तथा सभी स्त्रियों को विद्वान् पुरुष 'मैं नमस्कार करता हूँ' इस प्रकार कहे ।

संस्कृत व्याख्या—ये केचित्—ये केचन अविद्वांसः, नामधेयस्य—नामोच्चारण-सहितस्य; अभिवादं—प्रणामविधिं, न, जानते—जानन्ति, तान्—अल्पज्ञान्, तथैव—पूर्ववर्णितरीत्या, सर्वाः—निखिलाः, स्त्रियः—नार्यः, च, प्राज्ञः—सुधीजनः, अहम्—'अभिवादयेऽहम्', इति—एवं, ब्रूयात्—कथयेत् ।

विशेष—संस्कृत के ज्ञान से रहित ज्येष्ठ पुरुष, स्त्री एवं (विदुषी) गुरुपत्नी का संस्कृत, लौकिक अथवा अपभ्रंश (जो भाषा उन्हें ग्राह्य हो) में अभिवादन करे ।

भोः शब्द का महत्त्व—

भोः शब्दं कीर्तयेदन्ते स्वस्य नाम्नोऽभिवादने ।
नाम्नां स्वरूपभावोहि भोभाव ऋषिभिः स्मृतः ॥१२४॥

अन्वय—अभिवादने स्वस्य नाम्नः अन्ते 'भोः' शब्दं कीर्तयेत् हि ऋषिभिः भोभावः नाम्नां स्वरूपभावः स्मृतः ।

शब्दार्थ—नाम्नः—नाम के, भोभावः—भो की सत्ता, नाम्नां—नामों का, स्वरूपभावः—स्वरूपात्मक ।

हिन्दी अर्थ—अभिवादन में अपने नाम के अन्त में 'भोः' इस शब्द का उच्चारण करे क्योंकि ऋषियों ने 'भो' की सत्ता को नामों का स्वरूपभाव कहा है अर्थात् इसमें समग्र नाम समाहित हैं ।

संस्कृत व्याख्या—अभिवादने—प्रणामवाक्ये, स्वस्य—आत्मनः, नाम्नः—अभिधानस्य, अन्त—अवसाने, भोः इति शब्दं—'अभिवादये अमुकनामाहमस्मि भोः', कीर्तयेत्—उच्चारयेत्, अभिवाद्यसम्बोधनार्थं, हि—यतः, ऋषिभिः—मन्त्रद्रष्टारैः, भोभावः—भो अस्य यः भावः, भोः पदस्याभिप्रायः; नाम्नां—अभिवाद्यनाम्नां, स्वरूपभावः—अस्तित्वरूपः, स्मृतः—कथितः ।

विशेष—भोः—'भोः' पद के उच्चारण से अभिवाद्य के नाम की निवृत्ति हो जाती है ।

—मेधातिथि

'भोः' की सत्ता को मनु आदि ऋषियों ने अभिवाद्य के नाम के स्वरूप में स्मरण किया है ।

—कुल्लूक भट्ट

'भोः' के कथन से प्रत्यभिवादयिता अभिवादक के नामाक्षरों को ग्रहण कर लेता है ।

—गंगानाथ झा

प्रत्यभिवादन विधि—

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ॥१२५॥

अन्वय—अभिवादने 'सौम्य आयुष्मान् भव' इति विप्रः वाच्यः । अस्य नाम्नः अन्ते च पूर्वाक्षरः अकारः प्लुतः वाच्यः ।

शब्दार्थ—अभिवादने—अभिवादन के अनन्तर, अस्य—प्रणामकर्त्ता के, पूर्ववर्ती अक्षर ।

हिन्दी अर्थ—अभिवादन पाने पर, हे सौम्य ! 'आयुष्मान् हो', ब्राह्मण इस प्रकार कहे और प्रणामकर्त्ता के नाम अन्तिमाक्षर अकार का तथा (अन्तिम अक्षर के व्यञ्जन होने पर), पूर्ववर्ती स्वर का उच्चारण प्लुत करे ।

संस्कृत व्याख्या—अभिवादने—प्रणामानन्तरे, 'आयुष्मान् भव सौम्य', इति—एवं, विप्रः—ब्राह्मणः, वाच्यः—वक्तव्यः, अस्य—अभिवादकस्य, नाम्नः—अभिधानस्य, अन्ते—अवसाने, च, पूर्वाक्षरः—पूर्वं नामगतम् अक्षरं संश्लिष्टं यस्य

सः, अकारः—अकारादिः स्वरः, प्लुतः—'आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्त३' इति, वाच्यः—कथनीयः, नाम्नाम् अकारान्त—त्वनियमाभावात् ।

विशेष—अभिवादन करने के पश्चात् जिसका अभिवादन किया गया है उसके द्वारा जो आशीर्वचन कहा जाता है, वही अभिवादन है । उदाहरण—'अभिवादये....' इस अभिवादन वाक्य के पश्चात् अभिवाद्यमान का आशीर्वचन 'आयुष्मान् भव सौम्य देवदत्त३' अथवा 'सोमशर्म३न्' प्रत्यभिवादन वाक्य है । यहाँ वाक्य के अन्तिम पद 'देवदत्त' की टि 'अकार' की प्लुत संज्ञा होती है ।

प्लुत तीन मात्राओं वाले स्वर का नाम है । व्यञ्जनान्त शब्द के अन्तिम स्वर को प्लुत हो जाता है । वह प्लुत स्वर उदात्त होता है ।

'प्रत्यभिवादेऽशूद्रे' (अष्टाध्यायी ८/२/८३)—शूद्र वर्ण को छोड़कर प्रत्यभिवाद वाक्य के पद की टि को प्लुत होता है ।

'विप्रः' पद क्षत्रिय तथा वैश्य का भी द्योतक है किन्तु 'राजन्यविशां वा'—महर्षि कात्यायन के इस वचन के आधार पर क्षत्रिय तथा वैश्य के पक्ष में प्लुत नहीं होता है । उस स्थिति में अभिवादक के नाम में प्लुत का विधान वैकल्पिक है । पूर्व कथित पाणिनि सूत्र में 'अशूद्र' शब्द का प्रयोग है, अतः शूद्र के प्रति प्लुतरहित नामपद के उच्चारण का नियम है । 'स्त्रियामपि निषेधः'—कात्यायन के इस वचन के आधार पर स्त्री नाम मे भी प्लुत का निषेध है । 'नामगोत्रे गुरोः समानतो'—गुरु के नाम और गोत्र का निर्देश सम्मानपूर्वक करने का आदेश है ।

—गौतम धर्मसूत्र, २.२३

प्रत्यभिवादन न जानने वाले का अभिवादन निषेध—

यो न वेत्त्यभिवादस्य विप्रः प्रत्यभिवादनम् ।
नाभिवाद्यः स विदुषा यथा शूद्रस्तथैव सः ।।१२६।।

अन्वय—यः विप्रः अभिवादस्य प्रत्यभिवादनं न वेत्ति स विदुषा न अभिवाद्यः, यथा शूद्रः तथा एव सः ।

शब्दार्थ—वेत्ति—जानता है, विदुषा—विद्वानों के द्वारा, अभिवाद्यः—अभिवादन के योग्य ।

हिन्दी अर्थ—जो ब्राह्मण प्रणाम के पश्चात् प्रत्यभिवादन नहीं जानता है, विद्वान् पुरुष उसका अभिवादन न करे, (प्रत्यभिवादन शून्य) वह ब्राह्मण शूद्र के सदृश है ।

संस्कृत व्याख्या—यः विप्रः—ब्राह्मणः, अभिवादस्य—प्रणामरूप स्वागतविधेः, प्रत्यभिवादनं—प्रतिप्रणामं, आशीर्वचनमित्यर्थः, न, वेत्ति—जानाति, सः—अनभिज्ञः

ब्राह्मणः, विदुषा—मनोषिभिः, न, अभिवाद्य:—नमस्करणा [illegible], [illegible] शूद्रः—समादरणीयः न, तथैव सोऽपि ।

विशेष—ब्राह्मणों के लिए यह नियम था कि वे क्षत्रिय [illegible] का अभिवादन न करें भले ही वे विद्वान् एवं श्रद्धास्पद हों, केवल 'स्वस्ति' का उच्चारण पर्याप्त है । अभिवादन समान जातियों में ही होता है । यदि ब्राह्मण जातीय, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र का अभिवादन करे तो उसे प्रायश्चित्त स्वरूप एक, दो और तीन दिन का व्रत रखना पड़ता था । —धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पृष्ठ २३८

अभिवादक के अनुरूप प्रत्यभिवादन विधि (पूर्व वर्णित) का ज्ञान आवश्यक था, उचित प्रत्युत्तर न देने वाले ब्राह्मण को सम्मान नहीं मिलता था । यह समग्र विस्तार परस्पर सौहार्दपूर्ण वातावरण बनाए रखने के लिए था ।

वर्णानुसार कुशलता प्रश्न—

ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम् ।
वैश्यं क्षेम समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ॥१२७॥

अन्वय—ब्राह्मणं समागम्य कुशलं पृच्छेत्, क्षत्रबन्धुम् अनामयं (पृच्छेत्), वैश्यं क्षेमं (पृच्छेत्) शूद्रं च आरोग्यम् एव (पृच्छेत्) ।

शब्दार्थ—समागम्य—मिलकर, अनामय—नीरोगता, क्षेमं—कल्याण ।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण से मिलने पर उससे कुशल पूछे, क्षत्रिय से स्वास्थ्य, वैश्य से कल्याण तथा शूद्र से नीरोगता के सम्बन्ध में पूछे ।

संस्कृत व्याख्या—ब्राह्मणं—विप्रं, समागम्य—संप्राप्य, कुशलं—कुशलविषयकं, क्षत्रबन्धु—क्षत्रियं, अनामयं—स्वास्थ्यविषयकं, वैश्यं—वणिजं, क्षेमं—कल्याणं, शूद्रं—चतुर्थवर्णं, च, आरोग्यं—अरोगस्य भावः, रोगराहित्यं, पृच्छेत्—प्रश्नं कुर्यात् ।

विशेष—चारों स्वस्ति वाचक शब्दों की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

कुशलं—'कुश् द्युतौ वृषादित्वात् कलन् अथवा कुं पापं तस्मात् शलति गच्छति पृथक्त्वं प्राप्नोतीत्यर्थः' ।

आमयं—'आमं तापं रुग्णावस्थां वा यात्येनेन इति आमयः, आमयस्य अभावः अनामयम्' ।

समान या छोटी अवस्था वालों के परस्पर मिलने पर व्यवहार के विषय में समान तथ्य अवलोकनीय है—'कुशलमवरवयसं समानवयसं वा विप्रं पृच्छेत्, अनामयं क्षत्रियं, क्षेमं वैश्यम्, आरोग्यं शूद्रम्'—आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.४.१४.२६-२९—'अपि कुशलमायुष्मन्निति ब्राह्मणः प्रष्टव्यः, अप्यनामयम् अत्रभवत इति क्षत्रियः अप्यरोगो भवानिति वैश्य, अप्यरोगोऽसीति शूद्रः' । —हरदत्त गौतम धर्मसूत्र की टीका

कुशल व क्षेम एवं अनामय व आरोग्य समानार्थक पद हैं, अतः शब्द विशेष का ही उच्चारण उचित है।

—कुल्लूक भट्ट

दीक्षित का नामोच्चारण निषेध—

अवाच्यो दीक्षितो नाम्ना यवीयानपि यो भवेत्।
भोभवत्पूर्वकं त्वेनमभिभाषेत् धर्मवित् ॥१२८॥

अन्वय—यवीयान् अपि यः दीक्षितः भवेत्, (सः) नाम्ना अवाच्यः। धर्मवित् एनं तु भोभवत्पूर्वकम् अभिभाषेत्।

शब्दार्थ—यवीयान्—अल्पायु, दीक्षित—यज्ञानुष्ठान की दीक्षा लेने वाला, अभिभाषेत्—बातचीत करे।

हिन्दी अर्थ—अल्पवय किन्तु यज्ञादि में दीक्षित व्यक्ति को नाम लेकर नहीं पुकारे, धर्मज्ञजन उसे 'भो' अथवा 'भवत्' पूर्वक सम्बोधित करें।

संस्कृत व्याख्या—यवीयान्—कनिष्ठः, अपि, यः—जनः, दीक्षितः—यज्ञ-कर्मणि दीक्षां प्राप्तः, सः, नाम्ना—अभिधानेन, अवाच्यः—न सम्बोधनीयः, धर्मवित्—धर्मज्ञः पुरुषः, एनं—दीक्षासम्पन्नं तु, भोभवत्पूर्वकं—भो च भवत् च, पूर्वं यस्य (भो दीक्षित इदं कुरु, भवता यजमानेन इदं क्रियताम् इतिरूपेण) अभिभाषेत्—सम्बोधयेत्।

विशेष—दीक्षित—किसी धार्मिक कृत्य में प्रवेश की योग्यता प्राप्त करना—दीक्षा जाताऽस्य। अथवा दीक्ष् कर्तरि क्तः। सोम—पानविशिष्टयज्ञानुष्ठापक। अथवा गुरुमुखाद्गृहीतमन्त्रः। अथवा गुरुमुखात्, स्वेष्टदेवमन्त्रग्रहणम्। अथवा यजनं, पूजनं, व्रतसंग्रहः इति हेमचन्द्रः।

'ददाति दिव्यतां तावत् क्षिणुयात् पापसन्ततिम्।
तेन दीक्षेति विख्याता मुनिभिस्तन्त्रपारगैः॥

—गौतमीयतन्त्रम् १.२

यजमान दीक्षित के सम्मुख उपस्थित रहने पर 'भोः' शब्द का तथा परोक्ष रहने पर 'भवत्' शब्द का प्रयोग कर अभिभाषण करे। —मेधातिथि

दीक्षणीयेष्टि (दीक्षा प्रारम्भ) तथा अवभृथ (समापन) स्नान के मध्य काल में दीक्षित के प्रति 'भोः' एवं यजमान के प्रति 'भवत्' शब्द के उच्चारण पूर्वक सम्बोधन करे।

—नन्दन

परस्त्री सम्बोधन विधि—

परपत्नी तु या स्त्री स्यादसम्बन्धा च योनितः।
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च ॥१२९

अन्वय—या स्त्री परपत्नी स्यात्, योनितः असम्बन्धा च (स्यात्) तु भवति त्वं भवति सुभगे, भगिनी, इति एवं च ब्रूयात् ।

शब्दार्थ—योनितः—जन्म से, भवति—आप, सुभगे—सुन्दरि, भगिनी—बहिन ।

हिन्दी अर्थ—जो स्त्री दूसरे की पत्नी हो और जन्म से स्वपरिवार से असम्बन्ध हो, उसे 'आप', 'सुन्दरि' व 'बहिन' इस प्रकार सम्बोधित करे ।

संस्कृत व्याख्या—या, स्त्री—नारी, परपत्नी—परस्य अन्यस्य पत्नी, भार्या स्यात्—भवेत्, योनितः—जन्मतः, असम्बन्धा—कुटुम्बेन न सम्बद्धा, च, तां—त्वं तु, भवति; सुभगे—सौभाग्यवति, भगिनि—स्वसृ, इत्येवं—वयोऽनुरूपेण, च ब्रूयात्—वदेत् ।

विशेष—यह विधि कन्या जाति के लिए नहीं है । विवाहित स्त्रियों को उनके पतियों की अवस्था के अनुसार अभिवादन करना चाहिए ।

—आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.४.१४.१८. एवं विष्णुधर्मसूत्र ३२.

बान्धव अभिवादन विधि—

मातुलांश्च पितृव्यांश्च श्वशुरानृत्विजो गुरून् ।
असावहमिति ब्रूयात्प्रत्युत्थाय यवीयसः ।।१३०।।

अन्वय—यवीयसः (अपि) मातुलान् पितृव्यान् च श्वशुरान् ऋत्विजः गुरून् च प्रत्युत्थाय 'असौ अहम्' इति ब्रूयात् ।

शब्दार्थ—यवीयसः—अल्पवयस, मातुलान्—मामा को, पितृव्यान्—चाचा को, श्वशुरान्—ससुर को, ऋत्विजः—पुरोहित को, गुरून्—ज्येष्ठ को ।

हिन्दी अर्थ—कनिष्ठ मामा, चाचा, ससुर, ऋत्विक् एवं गुरुओं को (आने पर) उठकर 'अमुक नाम वाला मैं हूँ', इस प्रकार कहे ।

संस्कृत व्याख्या—यवीयसः—अल्पायुषः, मातुलान्—मातृभ्रातॄन्, पितृव्यान्—पितृभ्रातॄन्, च, श्वशुरान्—कन्याप्रदायकान्, ऋत्विजः—पुरोहितान्, गुरून्—ज्ञानवृद्धान् तपोवृद्धान्, च, प्रत्युत्थाय—अग्रे समागत्य, 'असौ अहमस्मि', इति ब्रूयात्—अभिवादयेत् ।

विशेष—'गुरून्—भूयिष्ठा खलु गुरवः' । —हारीत स्मृति

अतः किसी को अपने गुरु (ज्येष्ठ पुरुष) का नाम नहीं लेना चाहिए, उन्हें 'तुम' शब्द से भी नहीं पुकारना चाहिए । —महाभारत १९३.२

गुरुपत्नी तुल्य पूजनीया—

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।
सम्पूज्या गुरुपत्नीवत्समास्ता गुरुभार्यया ॥१३१॥

अन्वय—मातृष्वसा, मातुलानी, श्वश्रूः अथ पितृष्वसा गुरुपत्नीवत् सम्पूज्याः, ताः गुरुभार्यया समाः ।

शब्दार्थ—मातृष्वसा—मौसी, मातुलानी—मामी, श्वश्रूः—सास, पितृष्वसा—बुआ ।

हिन्दी अर्थ—मौसी, मामी, सास तथा बुआ—गुरुपत्नी के समान पूज्य हैं, ये सब गुरुपत्नी के तुल्य हैं ।

संस्कृत व्याख्या—मातृष्वसा—मातुः भगिनी, मातुलानी—मातुलपत्नी, श्वश्रूः—श्वशुरपत्नी, अथ पितृष्वसा—पितुः भगिनी, एताः सर्वाः, गुरुपत्नीवत्—आचार्यभार्यावत्, सम्पूज्याः—समर्चनीयाः, ताः, गुरुभार्यया—गुरोः भार्या, गुरुभार्या, तया, उपाध्यायपत्न्या, समाः—तुल्याः ।

विशेष—उन सबकी आलोचना से गुरुपत्नी की आलोचना के समान ही दोष प्राप्त होता है । यह विधि अल्पायु युवा स्त्रियों के विषय में भी जाननी चाहिए ।

—सर्वज्ञनारायण

चरणप्रणाम के योग्य स्त्रीपात्र—

भ्रातुर्भार्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि ।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः ॥१३२॥

अन्वय—भ्रातुः सवर्णा भार्या अपि अहनि अहनि उपसङ्ग्राह्या, ज्ञातिसम्बन्धियोषितः तु विप्रोष्य उपसङ्ग्राह्याः ।

शब्दार्थ—सवर्णा—सजातीय, उपसङ्ग्राह्या—चरणस्पर्श योग्य, ज्ञातिसम्बन्धियोषितः—जाति तथा सम्बन्धियों की स्त्रियां, विप्रोष्य—प्रवास से लौटकर ।

हिन्दी अर्थ—ज्येष्ठ भ्राता की सजातीय स्त्री (भाभी) को प्रतिदिन चरणों में प्रणाम करे, जाति तथा सम्बन्धियों की स्त्रियों को प्रवास से लौट कर चरणप्रणाम करना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या—भ्रातुः—अग्रजस्य, सवर्णा—सजातीया, भार्या—पत्नी, अपि, अहनि अहनि—प्रतिदिनम्, उपसङ्ग्राह्या—प्रणामार्हा, ज्ञातिसम्बन्धियोषितः—ज्ञातयश्च सम्बन्धिनश्च जातिसम्बन्धिनः, तेषां योषितः, योगसम्बन्धिभार्याः; तु, विप्रोष्य—प्रवासादागम्य, उपसङ्ग्राह्याः—अभिवाद्याः सन्ति ।

विशेष—भ्रातुः भार्या—आर्य समाज में बड़े भाई की पत्नी माँ के समान पूज्य थी । लक्ष्मण सम्मान-भाव से सदैव सीता के चरणों की ओर दृष्टि रखते थे

मुख की ओर नहीं। यही कारण था कि सीताहरण के पश्चात् वे मार्ग में सीता द्वारा फेंके हुए आभूषणों में से केवल पैरों के आभूषण पहचान पाते हैं, अन्य नहीं—

'नाहं जानामि केयूरे न च पश्यामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ।।'

—वाल्मीकि रामायण

मातृवत् व्यवहार्य---

पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्यपि।
मातृवद्वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी ।।१३३।।

अन्वय---पितुः मातुः च भगिन्यां ज्यायस्यां स्वसरि अपि च मातृवत् आतिष्ठेत्, माता ताभ्यः गरीयसी।

शब्दार्थ—ज्यायस्यां--बड़ी, स्वसरि---बहिन, आतिष्ठेत्--सम्पादित करे।

हिन्दी अर्थ---बुआ, मौसी एवं बड़ी बहन से माँ के, समान व्यवहार करे किन्तु माँ इन सबसे श्रेष्ठ है।

संस्कृत व्याख्या—पितुः भगिन्यां—जनकस्य स्वसरि, मातुः भगिन्यां—जनन्याः स्वसरि, च, ज्यायस्यां—ज्येष्ठायां, स्वसरि—सहोदरायां, अपि च, मातृवत्—जननीतुल्यां, वृत्ति—व्यवहारं, आतिष्ठेत्---समाचरेत्, माता—जन्मदात्री, ताभ्यः पूर्वोक्ताभ्यः, गरीयसी—श्रेष्ठा।

विशेष---सभी ज्येष्ठस्त्रियाँ सम्मान्य हैं किन्तु तुलना की जाए तो प्रथम माता की आज्ञा शिरोधार्य करनी चाहिए। माता सदा से जन्म देने, पालन करने व स्नेहदान के कारण गौरव की अधिकारणी रही है। अतः मातृ शब्द की व्युत्पत्ति--'मान् + तृ = मातृ—आदरणीया' इस प्रकार दी गई है। यास्क ने भी माता को समग्रप्राणियों का निर्माण करने वाली कहकर सम्मान दिया है—

माता—'निर्मीयन्ते अस्मिन् भूतानि।'

—निरुक्त, २.२

मित्रता में वर्षभेद—

दशाब्दाख्यं पौरसख्यं पञ्चाब्दाख्यं कलाभृताम्।
त्र्यब्दपूर्वं श्रोत्रियाणां स्वल्पेनापि स्वयोनिषु ।।१३४।।

अन्वय—पौरसख्यं दशाब्दाख्यं, कलाभृतां पञ्चाब्दाख्यं, श्रोत्रियाणां त्र्यब्दपूर्वं स्वयोनिषु स्वल्पेन अपि।

शब्दार्थ—पौरसख्यं—नगरवासियों की मित्रता, कलाभृतां—कलाविदों की, श्रोत्रियाणां—वेदपाठियों की, स्वयोनिषु—अपनी जाति वालों में।

हिन्दी अर्थ—नगरवासियों के साथ दस वर्ष, कलाविदों के साथ पाँच वर्ष,

वैदिकों के साथ तीन वर्ष एवं स्वजातियों के साथ थोड़े अन्तर में भी मैत्रीभाव रखा जा सकता है।

संस्कृत व्याख्या—पौरसख्यं—पुरे भवं पौरं, पौरं च तत् सख्यं, स्वनगर-निवासिभिः सह मैत्र्यं; दशाब्दाख्यं—दश च तानि अब्दानि, दशाब्दानि, दशाब्दानि आख्या यस्य तत्, दशवर्षपर्यन्तं; कलाभृतां—कलां बिभ्रतीति कलाभृतः तेषां, चतुः षष्टिगीतादिकलामर्मज्ञानां; पञ्चाब्दाख्यं—पञ्चवर्षपर्यन्तं, श्रोत्रियाणां—वेदपाठिनां, त्र्यब्दपूर्वकं—त्रिवर्षमात्रं, स्वयोनिषु—स्वस्य योनयः, तासु, स्वगोत्रोत्पन्नेषु, स्वल्पेन—अत्यल्पकालेन, अपि, मैत्र्यं सम्भवति।

विशेष—'**पौर**' शब्द केवल नगर नहीं, ग्रामवासियों का भी ग्रहण करता है। श्लोक के पूर्वार्द्ध में स्पष्ट रूप से स्थविरत्व (वृद्ध) लक्षण का एवं उत्तरार्द्ध में वयस्य (मित्र) लक्षण का कथन है।

ब्राह्मण पितासदृश—

ब्राह्मणं दशवर्षं तु शतवर्षं तु भूमिपम्।
पितापुत्रौ विजानीयाद् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता ॥१३५॥

अन्वय—दशवर्षं ब्राह्मणं तु शतवर्षं भूमिपं तु पितापुत्रौ विजानीयात्, तयोः ब्राह्मणः तु पिता।

शब्दार्थ—भूमिपं—क्षत्रिय को, विजानीयात्—जानो।

हिन्दी अर्थ—दशवर्षीय ब्राह्मण और सौ वर्षीय क्षत्रिय को परस्पर पितापुत्र समझना चाहिए, उन दोनों में ब्राह्मण पितृस्थानीय है। (भले ही उसकी आयु कम हो)।

संस्कृत व्याख्या—दशवर्षं—दशवर्षवयस्कः ब्राह्मणं—द्विजं, तु, शतवर्षं—शतवर्षायुर्वृद्धं, भूमिपं—क्षत्रियं, तु, पितापुत्रौ—पिता च जनकश्च पुत्रश्च, जन्यश्च; विजानीयात्—अवगच्छेत्, तयोः—विप्रक्षत्रयोः मध्ये, ब्राह्मणः; तु, पिता—जनकतुल्योऽस्ति।

विशेष—**ब्राह्मणम्**—प्राचीन भारतीय साहित्य में आदि से ही ब्राह्मण वर्ण की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है—ब्राह्मण ऐसे देवता हैं जिन्हें हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं—तैत्तिरीय संहिता १.७.३.१। राजा हरिश्चन्द्र के पुत्र के स्थान पर ब्राह्मण बालक शुनःशेप की बलि की चर्चा सुन वरुण देव प्रसन्न हो गए और कहा—ब्राह्मण तो क्षत्रिय से उत्तम होता है—'भूयान् वै ब्राह्मणः क्षत्रियादिति वरुण उवाच—ऐतरेय ब्राह्मण, ३.३४। सूत्रकाल भी क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण की वर्चस्वता का समर्थन करता है—

'दशवर्षश्च ब्राह्मणः' शतवर्षश्च क्षत्रियः ।
पितापुत्रौ स्म तौ विद्धि तयोस्तु ब्राह्मणः पिता ॥'

---आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.४.१४-२३

सम्मान के आधार—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥१३६॥

अन्वय—वित्तं, बन्धुः, वयः, कर्म, पञ्चमी विद्या—एतानि मान्यस्थानानि (सन्ति), यद् यद् उत्तरं (तद् तद्) गरीयः भवति ।

शब्दार्थ— मान्यस्थानानि—सम्मान के पात्र, गरीयः—अधिक महत्ता वाला ।

हिन्दी अर्थ—धन, बन्धु, आयु, कर्म एवं विद्या ये पाँच मान्यता के स्थान हैं, ये क्रमशः पूर्वापर क्रम से श्रेष्ठ हैं ।

संस्कृत व्याख्या—वित्तं—न्यायोपार्जितं धनं, बन्धुः—भ्रात्रादिः, वयः—अवस्था, कर्म—श्रुतिप्रतिपादितं कृत्यं, पञ्चमी—पञ्चसंख्यापूरणी, विद्या—तत्वज्ञानं, एतानि—उपर्युक्तानि पञ्च, मान्यस्थानानि—मान्यस्य स्थानानि, पूज्यकारणानि; एषां मध्ये, यद् यद्, उत्तरंउत्तरवर्ति, यथा—धनात् कुटुम्बः, कुटुम्बात् वयः, वयसः यागादिकर्म, कर्मणः वेदार्थज्ञानं इत्येवं तद्-तद् गरीयः—श्रेष्ठम् अस्ति ।

विशेष—धन से सम्बन्ध, सम्बन्ध से आयु, आयु से धार्मिक कृत्य एवं धार्मिक कृत्यों से ज्ञान महान् है । अन्य सभी धर्मशास्त्रियों ने धन को न्यूनतम मान्यता देते हुए विद्या को श्रेष्ठ स्वीकार किया है । कौटिल्य के अनुसार विद्या, बुद्धि, पौरुष, उच्चकुल एवं कर्मातिशय से सम्मान्य की सदा प्रतिष्ठा करनी चाहिए—

'पूज्या विद्याबुद्धि पौरुषाभिजनकर्मातिशयतश्च पुरुषाः ।'

—अर्थशास्त्र, ३.२०

पाँच मान्यस्थान—

पञ्चानां त्रिषु वर्णेषु भूयांसि गुणवन्ति च ।
यत्र स्युः सोऽत्र मानार्हः शूद्रोऽपि दशमीं गतः ॥१३७॥

अन्वय—त्रिषु वर्णेषु पञ्चानां यत्र भूयांसि गुणवन्ति च स्युः सः अत्र मानार्हः, दशमीं गतः शूद्रः अपि (मानार्हः) ।

शब्दार्थ—पञ्चानां—पाँच मान्यस्थानों में, भूयांसि—अधिकतम, मानार्हः—सम्मानयोग्य, दशमीं—दशक को ।

हिन्दी अर्थ—तीनों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) में पूर्वोक्त पाँच मान्य-स्थानों में जिस वर्ण के व्यक्ति में वित्तादि गुण अधिक हों, वह वहाँ सम्मान्य है तथा नब्बे वर्ष से अधिक आयु वाला शूद्र (ब्राह्मणादि तीनों वर्णों द्वारा) मान्य है ।

संस्कृत व्याख्या—त्रिषुवर्णेषु—ब्राह्मणक्षत्रियवैश्येषु, पञ्चानां—वित्तप्रभृतीनां मध्ये, यत्र—यस्मिन्नरे, भूयांसि—अधिकानि, गुणवन्ति—प्रकर्षवन्ति, च, स्युः—भवेयुः, सः—इत्थंभूतः, अत्र, मानार्हः—सम्मान्यः, दशमीं—दशकं, नवत्यधिकादवस्थामित्यर्थः; गतः—प्रविष्टः, शूद्रः—चतुर्थवर्णोत्पन्नः, अपि, विप्रादिभिः, मानार्हः—पूज्यः अस्ति ।

विशेष—सम्मान केवल आसन छोड़ कर उठ जाना है, अभिवादन की आवश्यकता नहीं होती है । विद्या में अधिकार न होने से केवल अधिक अवस्था वाले शूद्र का सम्मान उच्च वर्ण के छोटी अवस्था वाले लोगों द्वारा होना चाहिए, किन्तु अभिवादन नहीं होना चाहिए ।

---धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पृष्ठ २३८

वित्त और बन्धु से युक्त द्विज वयस्क से अधिक मान्य है; वित्त, बन्धु और वय तीनों से युक्त द्विज कर्मी से अधिक मान्य है; वित्त, बन्धु, वय और कर्म चारों से युक्त विद्वान् से अधिक मान्य है ।

प्रथम मार्ग के अधिकारी—

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः ।

स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ।।१३८।।

अन्वय—चक्रिणः, दशमीस्थस्य, रोगिणः, भारिणः, स्त्रियाः, स्नातकस्य च राज्ञः च वरस्य च पन्थाः देयः ।

शब्दार्थ—चक्रिणः—चक्र से युक्त रथादि पर आरूढ़ को, दशमीस्थस्य—नब्वे वर्ष से अधिक आयु वाले को, वरस्य—दूल्हे को ।

हिन्दी अर्थ—रथादि पर आरूढ़ व्यक्ति को, नब्वे वर्ष से अधिक आयु वाले वृद्ध को, रोगी को, भारवाही पुरुष को, स्त्रियों को, स्नातक विद्वान् को, राजा को तथा वर को मार्ग देना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या—चक्रिणः—चक्रमस्यास्तीति चक्री, तस्य, रथादियानारूढस्य; दशमीस्थस्य—दशम्यां तिष्ठतीति दशमीस्थः, तस्य, नवत्यधिकवर्षवयस्कस्य; रोगिणः—रोगमस्यास्तीति रोगी, तस्य, रुग्णमनुष्यस्य; भारिणः—भारमस्यास्तीति भारी, तस्य, भारवाहकस्य; स्त्रियः—नार्यः, स्नातकस्य—स्नात एव स्नातक, तस्य, अध्ययनं परिसमाप्य निवृत्तसमावर्तनसंस्कारस्यः च, राज्ञः—नृपस्य, च वरस्य—विवाहाय प्रस्थितस्य पुरुषस्य, च, पन्थाः—मार्गः, देयः—दातव्यः त्यक्तव्यः इत्यर्थः ।

विशेष—'चक्रिनशमीस्थानुग्राह्यवधूस्नातकराजभ्यः पथो दानम् । राजा तु श्रोत्रियाय ।'

—गौतमधर्मसूत्र, ६.२१.२२

यहाँ 'देयः' का अर्थ 'त्याज्यः' है। इसलिये 'चक्रिणः' आदि में चतुर्थी न होकर षष्ठी प्रयुक्त है।

अवरुद्ध मार्ग में प्रथम जाने में ब्राह्मणों को राजा से भी अधिक प्रमुखता प्राप्त थी। गौतम के अनुसार मार्गावरोध के समय सबसे पहले वाहन को तब क्रमशः बूढ़े, रोगी, नारी, स्नातक, राजा को जाने का अवसर देना चाहिए किन्तु राजा को चाहिए कि वह पहले श्रोत्रिय को जाने दे। रथिक, स्नातक एवं वर को सम्मान के कारण तथा वृद्ध, रोगी, भारवाहक एवं स्त्री को चलने में अक्षम होने कारण प्रथम मार्ग देने का विधान किया गया।

स्नातक सर्वाधिक सम्मान का पात्र—

तेषां तु समवेतानां मान्यौ स्नातकपार्थिवौ।
राजस्नातकयोश्चैव स्नातको नृपमानभाक् ॥१३९॥

अन्वय—समवेतानां तेषां तु स्नातक-पार्थिवौ मान्यौ, राजस्नातकयोः च स्नातकः एव नृपमानभाक्।

शब्दार्थ—समवेतानां—उपर्युक्त सभी के, नृपमानभाक्—राजा के सम्मान का पात्र।

हिंदी अर्थ—उपर्युक्त सभी में स्नातक तथा राजा सम्मान्य हैं, राजा और स्नातक ही राजा के सम्मान के पात्र हैं।

संस्कृत व्याख्या—समवेतानां—एकत्र समागतानां, तेषां—उपर्युक्तानां सर्वेषां मध्ये, तु, स्नातकपार्थिवौ—स्नातकश्च पार्थिवश्च तौ, नृप स्नातकौ, मान्यौ—पूजार्हौ, राजस्नातकयोः—राजा च स्नातकश्च, तयोः, नृपस्नातकयोः च मध्ये, स्नातकः एव, नृपमानभाक्—नृपेण मानभाक् इति नृपमानभाक्, राजा सम्मानयोग्यः भवति।

विशेष—आवागमन के नियमों में यह निश्चित है कि गुरु के यहाँ से विद्याध्ययन समाप्त करके सद्यः आया हुआ स्नातक राजा से पहले मार्ग पाता है क्योंकि वह महान् है—महद्वै एतद् भूतं यत् स्नातकः। —आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३.९.८.

आचार्य की परिभाषा—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥१४०॥

अन्वय—यः द्विजः तु शिष्यम् उपनीय सकल्पं सरहस्यं च वेदम् अध्यापयेत्, तम् आचार्यं प्रचक्षते।

शब्दार्थ—उपनीय—उपनयन संस्कार करके, सकल्पं—यज्ञविद्या, सरहस्यं—उपनिषत् विद्या।

हिन्दी अर्थ—जो ब्राह्मण का उपनयन संस्कार कर उसे कल्प अर्थात् यज्ञ विद्या एवं उपनिषद् विद्या अर्थात् रहस्य ज्ञान के सहित वेद का अध्यापन कराये उसे आचार्य कहते हैं।

संस्कृत व्याख्या—यः द्विजः—ब्राह्मणः, तु, शिष्यम्—अन्तेवासिनं, उपनीय उपनयनसंस्कारेण संस्कृत्य, सकल्पं—कल्पेन सहितं, कर्मकाण्डसहितं; सरहस्यं—रहस्येन संहितं, ज्ञानकाण्डसहितं; च वेदं—श्रुतिशाखासमुच्चयं, अध्यापयेत् पाठयेत् तं—पूर्वोक्तगुणसम्पन्नं, आचार्यं, उच्यते।

विशेष—हिन्दू संस्कृति में केवल मौखिक व्याख्यान द्वारा जनसमूह को सदुपदेश देने की प्रथा कभी नहीं थी अपितु आचार्य स्वयं व्यक्तिगत शुभ कार्यों द्वारा जनसमूह पर प्रभाव डालते हुए उसे आदर्श पालन की दिशा में प्रेरित करता था। समाज का प्रकृत उत्थान स्वकर्त्तव्य पालन में निहित है विचारों के कोरे प्रचार में नहीं, जो ऐसा सम्भव कर सके, वही आचार्य है। —आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.१.१.१४

जो शास्त्र के अर्थों का चयन करता है और उन आदर्शों का आचार के रूप में क्रियान्वयन करता है तथा स्वयं भी व्यक्तिगत जीवन में उन्हें चरितार्थ करता है, वही आचार्य कहलाता है—

'आचिनोति हि शास्त्रार्थान् आचरते स्थापयत्यपि।
स्वयं आचरते यस्तु आचार्यः स उच्यते॥'

उपाध्याय की परिभाषा—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते॥१४१॥

अन्वय—यः तु वेदस्य एकदेशं पुनः वेदाङ्गानि अपि वा वृत्त्यर्थम् अध्यापयति स उपाध्यायः उच्यते।

शब्दार्थ—एकदेशं—एक अंश को, वृत्त्यर्थं—आजीविका के लिए।

हिन्दी अर्थ—जो ब्राह्मण वेद के एक अंश (मन्त्र अथवा ब्राह्मण भाग) के तथा वेदाङ्गों (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष) को आजीविका के लिए पढ़ाता है, उसे 'उपाध्याय' कहते हैं।

संस्कृत व्याख्या—यः—द्विजः, तु, वेदस्य—संहितायाः, एकदेशं—एकभागं मन्त्रं ब्राह्मणं वा, पुनः, वेदाङ्गानि—शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तछन्दज्योतींषि षड्ङ्गानि, वृत्त्यर्थं—वृत्तेः अर्थं, जीविकार्थं, अध्यापयति—पाठयति, सः—विप्रः, 'उपाध्यायः' इति उच्यते—कथ्यते।

विशेष—उपाध्याय—उपेत्य अधीयते अस्मादिति। भविष्यपुराण (द्वितीय अध्याय) भी वृत्ति के लिए अध्यापन करने वाले को उपाध्याय संज्ञा देता है। शुल्क

ग्रहण करके विद्यादान करने के कारण ब्राह्मणों में इनका स्थान ऊँचा नहीं था क्योंकि ज्ञानविक्रय को वणिक्‌वृत्ति माना गया है—'यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति'—मालविकाग्निमित्र। अनेक धर्मशास्त्रों ने वेतनभोगी गुरु से पढ़ने को उपपातकों में गिना है। भृतकाध्यापक एवं उनके शिष्य श्राद्ध में बुलाए जाने योग्य नहीं माने जाते हैं।

मेधातिथि (मनु २.११२) के अनुसार शिष्य से कुछ भी ले लेने पर नहीं अपितु निर्दिष्ट धन लेकर अध्यापन व्यवस्था करने वाला गुरु भर्त्सना का पात्र होता है। स्वयं मनु (१०.१६) ने आपत्काल में जीविका के लिए निर्दिष्ट धन लेने की व्यवस्था दी है। महाभारत (आदिपर्व. १३३.२-३) में वर्णित तथ्य के अनुसार भीष्म ने पाण्डवों एवं कौरवों की शिक्षा के लिए द्रोण को धन एवं सुसज्जित आवास गृह दिया था, निर्दिष्ट जीविका नहीं।

गुरु की परिभाषा—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
संभावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥१४२॥

अन्वय—यः निषेकादीनि कर्माणि यथाविधि करोति, अन्नेन सम्भावयति च सः विप्रः गुरुः उच्यते।

शब्दार्थ—निषेकादीनि—गर्भाधान आदि शारीरिक संस्कारों को अन्नेन, भोजनदान से सम्भावयति—समृद्ध करता है।

हिन्दी अर्थ—जो ब्राह्मण निषेक अर्थात् गर्भाधानादि संस्कारों को वैदिक विधि के अनुरूप सम्पन्न करता है और अन्नादि के द्वारा शरीर का पोषण करता है उसे गुरु कहते हैं।

संस्कृत व्याख्या—यः—विप्रः, निषेकादीनि—गर्भाधानादीनि, कर्माणि—संस्कारकृत्यानि, यथाविधि—विधिम् अनतिक्रम्य, शास्त्ररीत्या; करोति—सम्पादयति, अन्ने—भोज्यपदार्थदानेन, सम्भावयति—सम्पोषयति, च, सः विप्रः गुरुः पिता वा, उच्यते-सम्बोध्यते।

विशेष—गुरुः—गृणाति उपदिशति वेदशास्त्राणि यद्वा गीर्यते स्तूयते शिष्यवर्गैः—जो वेदशास्त्रों का गृणन (उपदेश) करता है अथवा शिष्यसमूह द्वारा स्तुत होता है। गुरुओं का निर्धारण करते हुए कौटिल्य ने अभिमत दिया है कि ब्राह्मणों का गुरु अग्नि, वर्णों का गुरु ब्राह्मण, स्त्रियों का गुरु पति और सबका गुरु अतिथि है—

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥

—चाणक्यनीति

गुरु वही है जो संस्कार करता है और वेद पढ़ाता है । —याज्ञवल्क्य १३.४

स्पष्ट है, आरम्भ में पिता ही पुत्र को वेद पढ़ाता था अतः गुरु पिता ही सिद्ध होता है—'गुरुग्रहणं तु मुख्यं पितुरुपनेतृत्वमिति । तथा च श्रुतिः । तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुरिति । आचार्योपनयनं तु ब्राह्मणस्यानुकल्पः ।'

—विश्वरूप, याज्ञवल्क्य स्मृति १.१५ की टीका

अपने स्नेहपूर्ण कृत्यों के गुरु रूप पिता मानो साक्षात् देवता है—

'प्रभुः शरीरप्रभवः प्रियकृत्प्राणदो गुरुः ।
हितामनुनवेष्टा च प्रत्यक्षं दैवतं पिता ॥' —महर्षि व्यास

देवल के अनुसार पिता, माता, आचार्य, ज्येष्ठ भ्राता, भर्ता की गुरुओं में गणना होती है—'गुरुणामपि सर्वेषां पञ्च विशेषतः । यो भावयति, या सूते येन विद्योपदिश्यते । ज्येष्ठो भ्राता च भर्ता च पञ्चैते गुरवः स्मृताः ।'

—स्मृतिचन्द्रिका, भाग १, पृष्ठ ३५

गुरुत्व के लिए वर्जित पुरुषों की सूची इस प्रकार है—

'अभिशप्तमपुत्रञ्च सन्नद्ध कितवं तथा ।
क्रियाहीनं कल्पाङ्गं वामनं गुरुनिन्दकम् ॥
—देवल के अनुसार

सदा मत्सरसंयुक्तं गुरुमन्त्रेषु वर्जयेत् ।
गुरुर्मन्त्रस्य मूलं स्यात् मूलशुद्धौ सदा शुभम्' ॥
—कालिकापुराण, अध्याय ५४

ऋत्विक् की परिभाषा—

अग्न्याधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मुखान् ।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते ॥१४३॥

अन्वय—यः वृतः अग्न्याधेयं, पाकयज्ञान्, अग्निष्टोमादिकान् मखान् यस्य करोति स तस्य इह ऋत्विक् उच्यते ।

शब्दार्थ—वृतः—वरण किया जाने पर, मखान्—यज्ञों को,

हिन्दी अर्थ—जो ब्राह्मण वृत अर्थात् यजमान के द्वारा यज्ञ में चयनित होकर अथवा वृत अर्थात् सङ्कल्पपूर्वक पादपूजनादि कराकर, अग्न्याधान अर्थात् आहवनीयादि अग्नि उत्पादक कर्म, पाकयज्ञ अर्थात् अष्टकाश्राद्धादि यज्ञ तथा अग्निष्टोमादि यज्ञों को सम्पन्न करता है, उसे इस धर्मशास्त्र में उस यजमान का ऋत्विक् कहते हैं ।

संस्कृत व्याख्या—यः—विप्रः, वृतः—यजमानेन यज्ञसम्पादनाय स्वीकृतः, सङ्कल्पेन चरणपूजादि विधाय वा, अग्न्याधेयं—अग्नेः आधेयः यस्मिन् कर्मणि तत्,

आहवनीयाद्यग्न्युत्पादकं कर्म; पाकयज्ञान्—अष्टकाश्राद्धादीन्, अग्निष्टोमादिकान् मखान्—अग्निष्टोमादि—नामकान् यज्ञान्, यस्य—यजमानस्य, करोति—सम्पादयति, स—पुरुषः, तस्य यजमानस्य, ऋत्विक् इति, इह—धर्मशास्त्रे, उच्यते—कथ्यते ।

ऋत्विक्—ऋत्विक् कस्मात् ? ईरणः । ऋग्यष्टा भवतीति शाकपूणिः । ऋतुयाजी भवतीति वा'—निरुक्त ३.४ । यज्ञ को बढ़ाने वाला अथवा शाकपूणि के अनुसार ऋग्वेद के द्वारा यज्ञ कराने वाला अथवा उचित समय पर यज्ञ कराने वाला पुरोहित ऋत्विक् है ।

विशेष—अग्न्याधेयम्—गार्हपत्य तथा आहवनीय आदि पवित्र अग्नियों को अध्वर्यु की सहायता से उत्पन्न करने का कर्म अग्न्याधेय है । यजमान एवं उसकी पत्नी अरणि (लकड़ी) में घर्षण से अग्नि उत्पन्न कर वेदी पर स्थापित करते हैं । अग्नि स्थापना का काल वसन्त ऋतु हैं—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निनादधीत' ।

पाकयज्ञान्—श्रौत तथा स्मार्त यज्ञों की तीन संस्थाओं—पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, सोमयज्ञ में प्रथम पाकयज्ञसंस्था है—कौशिकसूत्र, १३८.१३ । पाकयज्ञसंस्था के अन्तर्गत सात यज्ञ समाविष्ट है—१. औपासन, २. वैश्वदेव, ३. पार्वण, ४. अष्टका-श्राद्ध, ५. मासिश्राद्ध, ६. श्रवणाकर्म, ७. शूलगव ।

अग्निष्टोम अग्नि देवता की उपासना के कारण यह एकाह (एकदिवसीय) यज्ञ अग्निष्टोम कहलाता है । यज्ञ का प्रमुख पदार्थ सोम प्रातः, मध्याह्न, एवं सायं—तीन बार पिया जाता है । सोलह ऋत्विजों से प्रारम्भ होने वाला यह यज्ञ दक्षिणा वितरण के साथ समाप्त होता है ।

आचार्य का महत्त्व—

य आवृणोत्यवितथं ब्रह्मणा श्रवणावुभौ ।
स माता स पिता ज्ञेयस्तं न द्रुह्येत्कदाचन ॥१४४॥

अन्वय—यः उभौ श्रवणौ ब्रह्मणा अवितथं ब्रह्मणा आवृणोति, सः माता सः पिता ज्ञेयः, तं कदाचन न द्रुह्येत् ।

शब्दार्थ—श्रवणौ—दोनों कानों में, ब्रह्मणा—वेदज्ञान द्वारा, अवितथं—सत्यस्वरूप, आवृणोति—भरता है ।

हिन्दी अर्थ—जो दोनों कानों को अवितथ अर्थात् स्वर वर्ण आदि दोषों से रहित (सत्यस्वरूप) परिपूर्ण करता है उसे माता और पिता समझना चाहिए, उससे कभी द्रोह नहीं करना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या—यः—विप्रः, उभौ—द्वौ, श्रवणौ—कर्णकुहरौ, ब्रह्मणा—वेदेन, अवितथं—स्वरवर्णादिदोषहीनं सत्यरूपं, आवृणोति—आपूरयति, सः माता—

जननी, सः पिता—जनकः, ज्ञेयः—मन्तव्यः, तं कदाचन्—कदापि, न द्रुह्येत्—द्रोहं न कुर्यात् ।

विशेष---यहाँ पितृ और मातृ शब्दों के उपचार से उपाध्याय की कल्पना की गई है । वेदविद्या का प्रदाता सुई से धागे में फूल को पिरोने के समान ज्ञान से कान में वाणी को पिरोता है । श्रुतिवचन है--ओंकार से सम्पूर्ण वाणी बिंधी हुई है—'वाक् संतृण्णोंकार एव'—छान्दोग्य उपनिषद्, २.२३.३ । उल्लेख्य है कि देवों मनुष्यों एवं असुरों ने अपने पिता प्रजापति से शिक्षा ली थी—बृहदारण्यक उपनिषद्, ५.२ । श्वेतकेतु आरुणेय ने भी अपने पिता के सान्निध्य में ही समग्र वेदों का अध्ययन किया था – 'कुमारानु त्वाऽशिषत्पितेत्यनु'—छान्दोग्य उपनिषद्, ५.३.१० ।

पूज्यों का क्रमशः गुरुत्व—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ।।१४५।।

अन्वय—दश उपाध्यायात् (अपेक्ष्य) आचार्यः, आचार्याणां शतं (अपेक्ष्य) पिता, सहस्रं तु पितॄन (अपेक्ष्य) माता गौरवेण अतिरिच्यते ।

शब्दार्थ—दश—दशगुणित, शतं—सौगुणित, सहस्रं—हजार गुणित, गौरवेण—गौरवपूर्ण ।

हिन्दी अर्थ—दश उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्य की अपेक्षा पिता और सहस्र पिताओं की अपेक्षा माता अधिक गौरवशालिनी है ।

संस्कृत व्याख्या—दश—दशसंख्याकान्, उपाध्यायान—वेदैकदेशं वेदाङ्गानि च अध्यापयितॄन् अपेक्ष्य, आचार्यः—उपनयनपूर्वक-सावित्रीमात्राध्यापकः, आचार्याणां, शतं—शतसंख्याकमपेक्ष्यं, पिता—गर्भाधानादिसंस्कारकर्ता अन्नेन संवर्धयिता च जनकः, सहस्रं तुपितॄन्—जनक सहस्रम् अपेक्ष्य, माता—जन्मदात्री, गौरवेण—गरिम्णा, अतिरिच्यते—समधिकास्ति ।

विशेष—**उपाध्यायान्**—कर्मप्रवचनीय 'अति' (अतिरिच्यते) के योग में यहाँ द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है । 'अतिरिच्यते' के कारण कर्त्ता को कर्मवद् भाव हो गया है । —अष्टाध्यायी ३.१.८७

पिता—यह शब्द सदा से शिशु के रक्षक तथा पालन पुरुष के लिए व्यवहृत है । वैदिक कवि सुख प्रदान करने के लिए देवताओं से पिता के समान वात्सल्य पूर्ण होने की प्रार्थना करता है—'अधा पितेव सूनवे वि वो मदे मृला नो अभि चिद्वधाद्विवक्षसे' । —ऋग्वेद, १०.२५.३

माता—'मान् पूजायां तृच् न लोपः' । भारतीय साहित्य में माता को बहुत अधिक सम्मान दिया गया है, उसका पद सर्वोच्च है । तेषां माता सुपूजिता'—

स्मृतिचन्द्रिका, भाग १ पृष्ठ ३५। उसके समान गुरु नहीं हैं—नास्ति मातृसमो गुरुः—अत्रि १५१। पुत्र को चाहिए कि वह अपनी माता की सेवा करे भले ही वह जातिच्युत हो चुकी हो क्योंकि वह पुत्र के लिए महान् कष्टों को सहन करती है। 'माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि' आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.१०.१८.६। पतित पिता परित्याज्य है किन्तु पतित माता नहीं क्योंकि पुत्र के लिए वह कभी भी पतित नहीं 'पतितः पिता परित्याज्यो माता तु पुत्रे न पतति'—वशिष्ठ धर्मसूत्र १३-४७। शंखलिखित के अनुसार पुत्र को पिता के विवाद में माता की ओर से बोलना चाहिए क्योंकि माता ने उसे गर्भ धारण किया, पालन-पोषण किया अतः माता के ऋण से उऋण होना असम्भव है। माता पृथ्वी से महान् है—माता गुरुतरा भूमेः—वनपर्व— ३१३.६०। शान्तिपर्व में माता की स्निग्ध शब्दों में प्रशंसा है—

'नास्तिमातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः।
नास्तिमातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया॥'

—शान्तिपर्व २६७-३१

सभी प्रकार के शापों से मुक्ति मिल सकती है किन्तु माता के शाप से नहीं—

'सर्वेषामेव शापानां प्रतिघातो हि विद्यते।
न तु मात्राभिशप्तानां मोक्षः क्वचन विद्यते॥'

—आदिपर्व ३७.५

यहाँ 'आचार्य' से शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करने वाला एवं गायत्री मन्त्र का अध्यापन करने वाला अभिप्रेत है। ऐसे आचार्य की तुलना में पिता उत्कृष्ट है। अगले श्लोक में पिता की अपेक्षा मुख्य आचार्य का उत्कर्ष कहा गया है। अतएव विरोध नहीं है।

आचार्य का उत्कर्ष—

उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता।
ब्रह्मजन्म हि विप्रस्य प्रेत्य चेह च शाश्वतम्॥१४६॥

अन्वय—उत्पादकब्रह्मदात्रोः ब्रह्मदः पिता गरीयान्, हि विप्रस्य ब्रह्मजन्म प्रेत्य च इह च शाश्वतम्।

शब्दार्थ—उत्पादक—जन्मदाता पिता, ब्रह्मदात्रोः—वेदाध्यापक के, ब्रह्मजन्म—द्वितीय वैदिक जन्म।

हिन्दी अर्थ—जन्म देने वाले पिता व ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने वाले पितृतुल्य आचार्य इन दोनों में ब्रह्मज्ञान के उपदेशक पितृतुल्य आचार्य श्रेष्ठ हैं क्योंकि

(ब्रह्मज्ञान से) ब्राह्मण का ब्रह्म जन्म (यज्ञोपवीत संस्कार) इस लोक तथा परलोक में शाश्वत अर्थात् चिरन्तन है ।

संस्कृत व्याख्या—उत्पादक ब्रह्मदात्रोः—उत्पादयतीति उत्पादकः, ब्रह्म ददातीति ब्रह्मदाता, उत्पादकश्च ब्रह्मदाता च तयोः, जनकाचार्ययोः; ब्रह्मदः—वेदोपदेशकः आचार्य पिता वा, गरीयान्—गुरुतरः अस्ति, हि—यतः, ब्रह्मजन्म—ब्रह्मग्रहणार्थं—जन्म उपनयनपूर्वकसावित्रीप्रदानवेदाध्ययनरूपसंस्कारं; प्रेत्य—मरणानन्तरं, परलोके वा, च, इह—अस्मिन् संसारे च, शास्वतं—स्थायी अस्ति, ब्रह्मप्राप्तिफलकत्वात् ।

विशेष—उपनयन से वेदाध्ययन, वेदाध्ययन से यज्ञाधिकार, यज्ञाधिकार से स्वर्ग प्राप्ति तथा (स्वर्ग प्राप्ति रूप) फल का परित्याग करने से ब्रह्म की उपलब्धि कराने से आचार्य महत्तम हैं—'आचार्यः श्रेष्ठः गुरुणाम् ।' —गौतम धर्मसूत्र, २.५६

ब्रह्मज्ञान का संकेत देने के कारण वह पिता माता के समान सम्मान्य है । 'त्रयः पुरुषस्यातिगुरवो भवन्ति । पितामाताचार्यश्च ।' —विष्णुधर्मसूत्र ३२.१.२

भौतिक जन्म सामान्य—

कामान्माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः ।
सम्भूतिं तस्य तां विद्याद्योनावभिजायते ।।१४७।।

अन्वय—माता पिता च एवं मिथः कामात् यत् उत्पादयतः, तस्य तां सम्भूति विद्यात्, यत् योनौ अभिजायते ।

शब्दार्थ—मिथः—परस्पर, कामात्—काम भावना के कारण, सम्भूतिं—उत्पत्ति को, योनौ—कुक्षि में ।

हिन्दी अर्थ—माता और पिता परस्पर काम के वशीभूत होकर जो बालक उत्पन्न करते हैं उसकी उस उत्पत्ति को जन्म मात्र का कारण जानो क्योंकि वह माता की कुक्षि में अंग प्रत्यङ्ग से निर्मित होता है ।

संस्कृत व्याख्या—माता—जन्मदात्री, पिता—उत्पादकः, च, एनं—शिशुं, मिथः—अन्योऽन्यं, कामात्—कामावेगवशात्, यत्—यस्माद् हेतो, उत्पादयतः—उत्पत्ति कुरुतः, तस्य—जातस्य शिशोः, तां—कथितां, सम्भूति—सम्भवकारणमात्रं भौतिकशरीरग्रहणमित्यर्थः, विद्यात्—जानीयत्, यत—यस्मिन्, योनौ—कुक्षौ, अभिजायते—समुत्पद्यते, अङ्गप्रत्यङ्गानि लभते ।

विशेष—विवाहो व विलासार्थः प्रजाय एव केवलम्-विवाह काम विलास के सुख के लिए नहीं, सन्तति परम्परा की अविच्छिन्नता के लिए किया जाता है ।

सम्प्रयोग काल में कामोद्रेक से उद्भूत स्त्री-पुरुष के रोम-रोम में हर्ष का सञ्चार होकर स्खलित कार्य में सम्पर्क स्थापित होता है—

'क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥

—मनुस्मृति ९.३८

यही वह संक्रमण काल है जब बीजस्थ जीव गर्भाशय में संस्कारानुरूप लिंग शरीर-सत्-रज-तम गुण और उच्च अथवा निम्न कोटि की भावनाओं के साथ वर्धित होता है तथा एक निश्चित अवधि के पश्चात् माता-पिता की दैहिक और मानसिक विशिष्टताओं के साथ समाज में पदार्पण कर सन्तान शब्द को सार्थक करता है—

'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामसि सजीव शरदः शतम् ॥'

—निरुक्त नैघण्टुक काण्ड, ३.१४

कामवश उपलब्ध यह जन्म असत्य है, जरा-मरण से युक्त है । अगला श्लोक उपनयन द्वारा उपलब्ध द्वितीय जन्म की उत्कृष्टता प्रतिपादित कर रहा है, इस प्रकार विरोध का परिहार है ।

उपनयन जन्म विशिष्ट—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः ।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा ॥१४८॥

अन्वय—वेदपारगः आचार्यः तु अस्य यां जातिं विधिवत् सावित्र्या उत्पादयति सा सत्या, सा अजरा, (सा) अमरा ।

शब्दार्थ—वेदपारगः—वेद में पारङ्गत, जाति-जन्म को, अजरा, वृद्धावस्था से परे, अमराः—मृत्यु से परे ।

हिन्दी अर्थ—वेदपारङ्गत आचार्य उस बालक के जिस जन्म को विधिपूर्वक गायत्री मन्त्रोपदेश के द्वारा उत्पन्न करता है, उसका वह जन्म सत्य, अजर तथा अमर है ।

संस्कृत व्याख्या—वेदपारगः—वेदस्य पारं गच्छतीति, समधीतवेदः, आचार्य—उपनीयकल्परहस्यसहितवेदशिक्षकः, तु, अस्य—छात्रस्य, यां जातिं—यज्जन्म, विधिवत्—शास्त्रानुसारेण, सावित्र्या—उपनीय प्रणवव्याहृतिपूर्वकसावित्रीमन्त्रप्रदानेन, उत्पादयति—जनयति, सा—जातिः, सत्या—अनृता, सा, सत्यरूपा, अजरा—जरामुक्ता, अमरा—मरणधर्मरहिता भवति ।

विशेष—द्वितीय जन्म के माध्यम से ब्रह्मचारी आचार्य द्वारा क्रमशः वेद, नियम, तथा देवताओं के सामीप्य के योग्य कर दिया जाता है—

'गुरोर्व्रतानां वेदस्य यमस्य नियमस्य च ।
देवतानां समीपं वा येनासौ नीयते द्विजः ॥

—वीरमित्रोदय संस्कारप्रकाश, भाग १, पृष्ठ ३३४

प्रत्येक अध्यापक गुरु है—

अल्पं वा बहु वा तस्य श्रुतस्योपकरोति यः ।
तमपीह गुरुं विद्याच्छ्रुतोपक्रियया तथा ॥१४६॥

अन्वय—यः यस्य अल्पं वा बहु वा श्रुतस्य उपकरोति, इह तथा श्रुतोपक्रियया तम् अपि गुरुं विद्यात् ।

शब्दार्थ—श्रुतस्य—ज्ञान के, श्रुतोपक्रियया—वेदाध्ययन रूप उपकार से ।

हिन्दी अर्थ—जो शिक्षक जिस शिष्य का अल्प अथवा अधिक वेदाध्यापन के द्वारा उपकार करता है, उस वेदाध्ययन रूप उपकार से उसे भी गुरु जानना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या—यः—उपाध्यायः, यस्य—पाठकस्य, अल्पं—सीमितं, बहु—अधिकं, वा—अथवा, श्रुतस्य—वेदाध्ययने श्रुतेन इत्यर्थः, उपकरोति—उपकारं करोति, इह—लोके, तथा—पूर्वोक्तया, श्रुतोपक्रियया—श्रुतमेव उपक्रिया, तया, वेदज्ञानदानेन; तमपि वेदज्ञानदातारं, गुरुं—गुरुतुल्यसमादरणीयं, विद्यात्—जानीयात् ।

विशेष—प्राचीन काल में समादिष्ट (शिष्याध्यापक) की परिपाटी थी अतः जो भी व्यक्ति अध्यापन कार्य करता था, गुरु के समान ही सम्मान का भागी होता था—'तथा समादिष्टे अध्यापयति ।' —आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.२.७.२८

इसी कारण समाज की धारणा थी कि जो व्यक्ति पुस्तक के आधार पर ही अध्ययन करता है गुरु से नहीं, वह सभा में शोभा नहीं पाता है—'पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसन्निधौ । भ्राजते न सभामध्ये ।' —पराशरमाधव, पृष्ठ १५४

प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि छात्र साधारणतः गुरु के पास जाते थे और उनके यहाँ रहते थे । उद्दालक आरुणि ने जो स्वयं ब्रह्मचारी एवं उच्च कोटि के दार्शनिक थे, अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मचारी रूप से वेदाध्ययन के लिए गुरु के समीप जाने को प्रेरित किया । —छान्दोग्य उपनिषद्, ६.१.१.१.२

घर पर वेदाध्ययन करने वाला निन्दास्पद है, रैभ्य यवक्रीत से योग्यतर इसीलिये हो सका कि उसने गुरु से शिक्षा पाई थी ।

—महाभारत, अनुशासन पर्व, ३६.१५

वेदोपदेष्टा ब्राह्मण बालक पितातुल्य—

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता ।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः ॥१५०॥

अन्वय—ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता, स्वधर्मस्य शासिता च बालः अपि विप्रः वृद्धस्य धर्मतः पिता भवति ।

शब्दार्थ—जन्मनः—जन्म का, स्वधर्मस्य—अपने कर्त्तव्य का, शासिता—उपदेशक ।

हिन्दी अर्थ—वेद के अधिकाररूप द्वितीय जन्म (उपनयन संस्कार) को सम्पन्न कराने वाला तथा अपने वर्ण एवं आश्रम के अनुरूप धर्म का उपदेश देने वाला अल्पायु ब्राह्मण भी धर्म की दृष्टि से वृद्ध का पिता होता है ।

संस्कृत व्याख्या—ब्राह्मस्य—वेदाध्ययनस्य, जन्मनः—उत्पत्तेः, द्विजत्वस्य इत्यर्थः; कर्ता—अनुष्ठापयिता, स्वधर्मस्य—स्ववर्णाश्रमानुरूपाचारसंहितायाः शासिता—व्याख्याता, बालः—अल्पवयः, अपि विप्रः—ब्राह्मणः, वृद्धस्य—ज्येष्ठस्य, धर्मतः—धर्मशास्त्रानुसारतः, पिता—पितृतुल्यः भवति ।

विशेष—बालः—आठ वर्ष में उपनयन, पुनः वेदाभ्यास के कठिन वर्ष, तब माणवक आचार्यत्व में दीक्षित होता है अतः 'बालः' पद का प्रयोग अयुक्त है । वस्तुतः प्राचीन भारत की शिक्षण पद्धति में आयु का नहीं, शिक्षण कार्य का महत्त्व था । अध्यापन कार्य मौखिक शैली में सम्पादित होता था, पुस्तकीय ज्ञान निकृष्ट कोटि का माना जाता था अतः गुरु का पद स्वतः उच्च हो गया था । सत्यकाम जाबाल अपने गुरु से कहते हैं—मैंने आप जैसे गुरुओं से सुना है कि गुरु से प्राप्त किया हुआ ज्ञान महान् होता है ।

श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति ।

—छान्दोग्य उपनिषद्, ४.९.३

उपनिषद् के रहस्य उसी पुरुष के समक्ष उद्भूत होते हैं जिसकी गुरु में भगवान् के समकक्ष भक्ति होती है—

'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः इति ॥'

—श्वेताश्वतर उपनिषद्, ६.२३

आङ्गिरस का दृष्टान्त—

अध्यापयामास पितॄञ्शिशुराङ्गिरसः कविः ।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान् ॥१५१॥

अन्वय—आङ्गिरसः कविः शिशुः पितॄन् अध्यापयामास, तान् ज्ञानेन परिगृह्य 'पुत्रकाः' इति ह उवाच।

शब्दार्थ—पितॄन्—पितृतुल्य, परिगृह्य—ग्रहण करके, उवाच—कहा।

हिन्दी अर्थ—अङ्गिरा के मेधावी पुत्र आङ्गिरस बृहस्पति ने अपने पितृतुल्य चाचा, मामा आदि को पढ़ाया और उन्हें शिष्य रूप में ग्रहण करके हे पुत्रो! इस प्रकार सम्बोधित किया।

संस्कृत व्याख्या—आङ्गिरसः—अङ्गिरसः अपत्यं, बृहस्पति कविः—क्रान्तदर्शी मेधावी वा, शिशुः—बालः, पितॄन्—पितृतुल्यान् पितृव्यादीन् ज्येष्ठान्, अध्यापयामास—पाठयामास, तान्—पितृव्यभ्रात्रादीन्, ज्ञानेन परिगृह्य—शिष्यरूपे स्वीकार्य, पुत्रका;—हे पुत्राः! (अधीष्व), इति ह उवाच—एवं उक्तवान्।

विशेष—टीकाकारों का मत है कि यहाँ शिशु आङ्गिरस द्वारा पितृजनों के प्रति अध्यापन और पुत्रक रूप सम्बोधन के कारण परकृति रूप अर्थवाद है। यह अर्थवाद किसी व्यक्ति द्वारा अपनाए गए विरोधी कर्म का उल्लेख करता है।

आङ्गिरस के प्रति देवताओं का उत्तर—

ते तमर्थमपृच्छन्त देवानागतमन्यवः।
देवाश्चैतान्समेत्योचुर्न्याय्यं वः शिशुरुक्तवान् ॥१५२॥

अन्वय—आगतमन्यवः ते देवान् तम् अर्थम् अपृच्छन्त, देवाश्च एतान् समेत्य ऊचुः—शिशुः वः न्याय्यम् उक्तवान् इति।

शब्दार्थ—आगतमन्यवः—उत्पन्न हुए क्रोध वाले, न्याय्यं—उचित।

हिन्दी अर्थ—क्रुद्ध हुए पितृव्यादि ने देवताओं से पुत्र शब्द के अर्थ को पूछा, देवताओं ने पितृव्यादि के समीप जाकर कहा—अङ्गिरा शिशु बृहस्पति ने आप लोगों को सम्यक् सम्बोधित किया है।

संस्कृत व्याख्या—आगतमन्यवः—आगतः मन्युः येषां ते, सञ्जातकोपाः; ते—पितृव्यादयः, देवान्—अमरान् तमर्थं—पुत्रशब्दार्थं, अपृच्छन्त—पृष्टवन्तः, देवाश्च—एतान्—पित्रादीन्, समेत्य—सम्प्राप्य, ऊचुः—उक्तवन्तः, शिशुः—बृहस्पतिः, वः—अमराश्च, युष्मान्, न्याय्यं—समुचितं, उक्तवान्—सम्बोधितवान्।

अज्ञानी बालक, किन्तु ज्ञानी पिता—

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१५३॥

अन्वय—अज्ञः वै बालः भवति, मन्त्रदः पिता भवति, हि अज्ञं बालम् इति, मन्त्रदं पिता इति एव तु आहुः।

शब्दार्थ—अज्ञः—मूर्ख, मन्त्रदः—सावित्री मन्त्र प्रदान करने वाला।

हिन्दी अर्थ—अज्ञानी ही बालक होता है उसे मन्त्र देने वाला पिता होता है क्योंकि प्राचीन मनुष्यों ने अज्ञ को बालक तथा वेद के उपदेष्टा को पिता कहा है।

संस्कृत व्याख्या—अज्ञः—जानातीति ज्ञः, न ज्ञः, ज्ञानविरहितः; वै शब्दोऽवधारणे, बालः—अल्पायुः भवति, मन्त्रदः—सावित्र्यादिमन्त्रशिक्षकः,—पिता—पितृसमपूज्यः, भवति, हि—यतः, अज्ञं—मूर्खं, बालं—बालकसदृशम् अल्पमेधसम्, इति, मन्त्रदं—उपदेष्टारं, पिता—पितृवत्पूज्यः, इति एव तु, आहुः—कथयन्ति।

केवल वेदों में निष्णात ही महान्—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥१५४॥

अन्वय—(कश्चिदपि) हायनैः न, पलितैः न, वित्तेन न, बन्धुभिः न (महान् भवति परन्तु) यः अनूचानः सः नः महान्, ऋषयः धर्मं चक्रिरे।

शब्दार्थ—हायनैः—अधिक अवस्था से, पलितैः—बालों के पक जाने से, अनूचानः—साङ्गोपाङ्ग वेद का ज्ञाता।

हिन्दी अर्थ—अधिक वर्षों की आयु होने से, श्वेत केशराशि से, धन के आधिक्य से अथवा बन्धु-बान्धवों के बाहुल्य से बड़ा नहीं होता है किन्तु जो अङ्ग उपांग सहित वेद का विद्वान् है हमारे मध्य वही महान् है, ऋषियों ने यह नियम निर्धारित किया था।

संस्कृत व्याख्या—(कश्चित्पुरुषः) हायनैः—अधिकवयोऽभिः न महान् भवति, पलितैः—शुक्लकेशैः, न सम्मान्यः भवति, वित्तेन—धनाधिक्येन, न पूज्यः भवति, बन्धुभिः—बहुभिः कुटुम्बिभिः, न महत्त्वपूर्णः भवति (अपितु), यः—मानवः, अनूचानः—षडङ्गवेदाध्येता, वेदार्थानुवचनसमर्थः इत्यर्थः; सः—वेदज्ञः, नः—अस्माकं मध्ये, महान्—श्रेष्ठः भवितुमर्हति, इति—इत्थं, ऋषयः—मन्त्रद्रष्टारः, धर्मं—नियमं, चक्रिरे—निश्चितवन्तः।

विशेष—अनूचानः—जिसे वेद एवं वेदाङ्गों का अर्थ ज्ञात हो, जो पवित्र हृदय का हो और अग्निहोत्र करता हो—'स्वाध्यायपर आहिताग्निर्हविर्यज्ञैरप्यनूचानः।'

—वैखानस गृह्यसूत्र, १.१

जो वेद विद्या में पारंगत है वही श्रेष्ठतम है, उसी से व्यक्ति अमरत्व प्राप्त करता है—'विद्ययाऽमृतमश्नुते।'

—ईशोपनिषद्, ११

वर्णों में क्रमशः श्रेष्ठता—

विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणां तु वीर्यतः ।
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ॥१५५॥

अन्वय—विप्राणां ज्ञानतः, क्षत्रियाणां तु वीर्यतः, वैश्यानां धान्यधनतः, शूद्राणां जन्मतः एव ज्यैष्ठ्यम् (भवति) ।

शब्दार्थ—वीर्यतः—शक्ति से, धान्यधनतः—धनधान्य से, ज्यैष्ठ्यं—श्रेष्ठता ।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मणों की ज्ञान से, क्षत्रियों की शक्ति से, वैश्यों की समृद्धि से और शूद्रों की जन्म से श्रेष्ठता निर्धारित होती है ।

संस्कृत व्याख्या—विप्राणां—द्विजातीनां, ज्ञानतः—विद्यया, क्षत्रियाणां—राजन्यानां, तु, वीर्यतः—पराक्रमेण, वैश्यानां—वणिग्जनानां, धान्यधनतः—वस्त्र-सम्पदादिधनरूपैश्वर्येण, शूद्राणां—चतुर्थवर्णोत्पन्नानां, जन्मतः—जन्मना, एव ज्यैष्ठ्यं—श्रेष्ठत्वं, निश्चीयते ।

विशेष—यज्ञ, अध्ययन एवं दान क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण के अनिवार्य धर्म हैं । वेदाध्यापन, यज्ञ कराना, दान ग्रहण करना, ब्राह्मणों के विशेषाधिकार हैं । युद्ध करना एवं प्रजाजन की रक्षा करना क्षत्रियों के विशेष कर्त्तव्य हैं । कृषि, पशुपालन, व्यापार आदि वैश्यों के आवश्यक कर्म हैं : प्रथम तीन अर्थात् यज्ञ, अध्ययन व दान द्विज मात्र के कर्त्तव्य हैं किन्तु वेदाध्यापन केवल ब्राह्मण की जीविका का साधन है—'द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम् । ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजन-प्रतिग्रहाः । पूर्वेषु नियमस्तु । राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम् । वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यकुसीदम् ।

—गौतम धर्मसूत्र, १०.१.३, ७, ५०

शूद्रों का विशिष्ट कार्य था द्विजातियों की सेवा करना एवं उनसे भरण-पोषण पाना । उन्हें क्षत्रियों की अपेक्षा ब्राह्मणों की ओर वैश्यों की अपेक्षा क्षत्रियों की सेवा अधिक सुखकर मान्य थी—'शुश्रूषा शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम् । पूर्वस्मिन् पूर्वस्मिन् वर्णे निश्श्रेयसं भूयः ।

—आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.१.१.७.८

अवस्था की अपेक्षा ज्ञान से वृद्धत्व—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥१५६॥

अन्वय—येन अस्य शिरः पलितं, तेन वृद्धः न भवति । यः वै युवा अपि अधीयानः, देवाः तं स्थविरं विदुः ।

शब्दार्थ—पलितं– सफेद बालों वाला, अधीयानः—अध्ययनशील, स्थविरं—वृद्ध ।

हिन्दी अर्थ—शिर के बाल पक जाने मात्र से कोई बड़ा नहीं होता है किन्तु युवा पुरुष भी यदि विद्या में अधिक हो, देवता उसे ही वृद्ध कहते हैं ।

संस्कृत व्याख्या—येन—येन कारणेन, अस्य—कस्यचित् मनुष्यस्य, शिरः-शीर्ष, पलितं—श्वेतकेशैः युक्तं तेन हेतुना, वृद्धः—स्थविरः, न भवति, यः नरः, वै, युवा—तरुणः, सन् अपि, अधीयानः—पठ्यमानः, देवाः—अमराः, तम्—अल्पवयस्कं, स्थविरं—ज्येष्ठं, विन्दुः—जानन्ति ।

मूर्ख ब्राह्मण की अनुपयोगिता—

यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ।।१५७।।

अन्वय—यथा काष्ठमयः हस्ती, यथा चर्ममयः मृगः, यः विप्रः अनधीयानः च, ते त्रयः नाम बिभ्रति ।

शब्दार्थ—अनधीयानः—अध्ययन न करने वाला, बिभ्रति—धारण करता है ।

हिन्दी अर्थ—लकड़ी का बना हुआ हाथी, चमड़े से बना हुआ मृग तथा वेदाध्ययन शून्य अर्थात् मूर्ख ब्राह्मण, ये तीन केवल नाममात्र को धारण करते हैं—अर्थात् समाज के लिए अनुपयोगी है ।

संस्कृत व्याख्या—यथा—येन प्रकारेण, काष्ठमयः—काष्ठस्य विकारः, दारुनिर्मितः; हस्ती—गजः, यथा, चर्ममयः—चर्मणः विकारः, त्वक्रचितः; मृगः—हरिणः, यः, विप्रः—ब्राह्मणः, अनधीयानः—न अधीयानाः, वेदज्ञानशून्यः; च ते त्रयः अपि—एते सर्वेऽपि, नाम—उपाधिमात्रं, बिभ्रति—दधति ।

विशेष—निष्प्राण हाथी युद्ध आदि जीवन हीन मृग आखेट आदि तथा अनधीत ब्राह्मण श्रौत स्मार्त आदि कर्मों के लिए व्यर्थ होता है ।

मूर्ख ब्राह्मण की अनुपयोगिता—

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः ।।१५८।।

अन्वय—यथा स्त्रीषु षण्ढः अफलः, यथा च गौः गवि अफला, यथा च अज्ञे दानम् अफलं, तथा अनृचः विप्रः अफलः ।

शब्दार्थ—षण्ढः—नपुंसक, अफलः—निष्फल, गवि—गायों में, अनृचः—वेदज्ञानशून्य ।

हिन्दी अर्थ—जिस प्रकार स्त्रियों में नपुंसक निष्फल है, जिस प्रकार गायों में गर्भधारण करने में अक्षम गाय व्यर्थ है और जिस प्रकार मूर्ख में दान विफल है, उसी प्रकार वेदवेदाङ्ग के ज्ञान से शून्य ब्राह्मण निष्फल है।

संस्कृत व्याख्या—यथा—येन प्रकारेण, स्त्रीषु—नारीषु, षण्ढः—क्लीवः, अफलः, सन्तानोत्पादनेऽसमर्थः इत्यर्थः; यथा च, गौः—धेनुः, गवि, फलविहीना, गर्भधारणेऽक्षमा इत्यर्थः; यथा च, अज्ञे—बुद्धिहीने, दानं दीयते इति दानं, वस्तुपरित्यागः; अफलं—निष्फलं, तथा—तेनैवप्रकारेण, अनृचः—वेदाध्ययनरहितः प्रियः—द्विजः; अफलः—व्यर्थः, श्रुतिस्मृतिविहितयागानुष्ठानेऽसमर्थः भवति। विशेष—उपर्युक्त उद्धरण प्रजनन क्रिया एवं सन्तानोत्पत्ति की असमर्थता को बताते हैं।

उपदेश की शैली मधुर—

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक्चैव मधुराश्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥१५९॥

अन्वय—धर्मम् इच्छता भूतानाम् अहिंसया एव श्रेयः अनुशासनं कार्यं, मधुरा श्लक्ष्णा च वाक् एव प्रयोज्या।

शब्दार्थ—भूतानां—प्राणियों का, अनुशासनं—उपदेश, श्लक्ष्णा—चिकनी।

हिन्दी अर्थ—धर्म की अभिलाषा रखने वाले पुरुष को, अहिंसा के द्वारा ही प्राणियों के कल्याण के लिए उपदेश करना चाहिए और मधुर तथा सुकोमल वाणी का ही प्रयोग करना चाहिए।

संस्कृत व्याख्या—धर्मं—धर्मबुद्धि, इच्छता—अभिलषता, जनेन, भूतानां—प्राणिनां शिष्याणां वा, अहिंसया—हिंसारहितवृत्त्या अल्पहिंसया वा, दयाभावेनेत्यर्थः, एव, श्रेयोऽनुशासनं—श्रेयसे कल्याणाय, अनुशासनं—उपदेशः, कार्यं—कर्त्तव्यं, मधुरा—प्रिया, श्लक्ष्णा—सुकोमला च, वाक्—वाणी प्रीतिजननी मन्दस्वरा च उक्तिः इत्यर्थः; एव, प्रयोज्या—वक्तव्या।

विशेष—भूतानाम्—यहाँ प्राणि शब्द का अर्थ शिष्य मात्र नहीं अपितु, स्त्री, पुत्र, दास, सहोदर आदि हैं।

अहिंसया—सन्मार्ग का अनुसरण करने की शिक्षा देते समय साधारणतः शान्त भाव से बिना मारे-पीटे शिष्यों को व्यवस्थित करने का प्रयास करना चाहिए शिष्यशिष्टिरवधेन।

—गौतम धर्मसूत्र, २.४२.४३

किन्तु यदि शब्दों का प्रभाव न पड़े तो कम-से-कम दण्ड देना चाहिए। रस्सी से या पतली बाँस की छड़ी से ही ताडन करना चाहिए—

भार्या पुत्रश्च दासश्च प्रेष्यो भ्राता च सोदरः।
प्राप्तापराधास्ताड्याः स्यू रज्ज्वा वेणुदलेन वा॥

—मनुस्मृति, ८.२९९

वेदान्त के फल की प्राप्ति का उपाय—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥१६०॥

अन्वय—यस्य वाङ्मनसी शुद्धे, सर्वदा सम्यक् गुप्ते च, सः वेदान्तोपगतं सर्वं फलं वै अवाप्नोति ।

शब्दार्थ—गुप्ते—सुरक्षित हैं, वेदान्तोपगतं—वेदान्त में वर्णित, अवाप्नोति—प्राप्त करता है ।

हिन्दी अर्थ—जिस व्यक्ति के वचन तथा मन सर्वदा निर्मल एवं वश में रहने वाले हैं, वह वेदान्त में वर्णित (मोक्ष रूप) सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है ।

संस्कृत व्याख्या—यस्य—पुरुषस्य, वाङ्मनसी—वाक् वाणी च मनश्च चित्तं च, शुद्धे—निश्छले, सर्वदा—अनवरतं, सम्यक्—समुचितप्रकारेण, गुप्ते—वशीभूते, सः—जितेन्द्रियः, वेदान्तोपगतं—वेदस्य अन्तः वेदान्तः तत्र उपगतं—अवगतं, उपनिषत्सु प्रतिपादितं, सर्वं—अशेषं, फलं—मुक्तिरूपं पुण्यं, वै, अवाप्नोति—लभते ।

विशेष—वाङ्मनसी—वाणी को असत्य आदि दोषों से व मन को राग-द्वेष आदि विकारों से निर्दुष्ट होना चाहिए, यही उनकी निर्मलता है । मन जो कुछ सोचता है वाणी उसे ही अभिव्यक्त करती है—'यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा विलपति !'

द्रोहबुद्धि एवं कठोर वाणी का निषेध—

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥१६१॥

अन्वय—आर्तः अपि अरुन्तुदः न स्यात्, परद्रोहकर्मधीः न (स्यात्), अस्य यया वाचा उद्विजते, अलोक्यां तां (वाचं) उदीरयेत् ।

शब्दार्थ—आर्तः—दुःखित, अरुन्तुदः—मर्म पर आघात करने वाली, उद्विजते—उद्वेग होता है, अलोक्यां—लोक के लिए अमंगलकारी ।

हिन्दी अर्थ—स्वयं दुःखी होते हुए भी दूसरों के मर्म-स्थल का भेदन करने वाली न कहे, दूसरों से द्रोह करने वाली बुद्धि भी न करे और जिस वाणी से किसी को उद्वेग अर्थात् व्यथा का अनुभव हो ऐसी स्वर्ग आदि लोकों की प्राप्ति में बाधक वाणी का उच्चारण नहीं करे ।

संस्कृत व्याख्या—आर्तः—दुःखित, अपि, अरुन्तुदः—अरुन्तुदतीति, मर्माघातकरः; न, स्यात्—भवेत्, परद्रोहकर्मधीः—परेषां द्रोहः परद्रोहः, परद्रोहस्य कर्म परद्रोहकर्म, तस्मिन् धीर्यस्य सः, अन्यद्वेषकारकबुद्धिः; अपकारभावना इत्यर्थः; अपि

न, स्यात् अस्य—पीडितस्य, यया वाचा—येन वचनेन, उद्विजते—व्यथितः भवति, अलोक्यां—लोकाय हिता लोक्या, न लोक्या अलोक्या, तां, लोकामङ्गलकारिणीं, स्वर्गप्राप्तिबाधिकां; तां—गिरां, न, उदीरयेत्—भाषयेत् ।

विशेष—अश्वमेध यज्ञ का अश्व लव-कुश द्वारा पकड़े जाने पर राजाराम (से अपरिचित) के विषय में उनके सेवकों से दर्पपूर्ण उक्तियाँ सुनकर लव कहते हैं—ऋषि जन उन्मत्त और गर्वयुक्त मनुष्यों की वाणी को राक्षसी वाणी कहते हैं वह समस्त द्रोहों का कारण है और वही संसार के तिरस्कार का भी कारण है—

'ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः ।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निष्कृतिः' ।।

—उत्तररामचरित ५.२९

ब्राह्मण मानापमान में समान—

सम्मानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ।।१६२।।

अन्वय—ब्राह्मणः सम्मानात् विषात् इव नित्यम् उद्विजेत, अवमानस्य च अमृतस्य इव सर्वदा आकाङ्क्षेत् ।

शब्दार्थ—अवमानस्य—अपमान की, आकांक्षेत्-इच्छा करे ।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण सम्मान से विष के समान सदा डरता रहे अर्थात् सम्मान के प्रति निर्लिप्त रहे और अपमान की अमृत के समान सर्वदा अभिलाषा करे अर्थात् अपमान में धैर्य रखे ।

संस्कृत व्याख्या—ब्राह्मणः—विप्रः, सम्मानात्—सम्यक् मानं सम्मानं, तस्मात्, समादरात्; विषात्—गरलात्, इव, नित्यं—सर्वदा, उद्विजेत—उद्विग्नः सम्मानलालसां न कुर्यात् इत्याशय; अवमानस्य—अपमानस्य, च, अमृतस्य—पीयूषस्य, इव, नित्यं—प्रतिदिनं, आकांक्षेत्—अभिलषेत् । मानावमान-द्वन्द्व सहिष्णुः भवेत् इति ।

विशेष—मनुष्य के कल्याण मार्ग में अत्यन्त बाधक यह मानापमान ही हैं जो प्रवृत्ति और निवृत्ति के माध्यम से उसकी अहं बुद्धि को नष्ट नहीं होने देते हैं किन्तु इसके विपरीत जो पुरुष मानापमान इत्यादि द्वन्द्वों की चिन्ता नहीं करता है उसके लिए सुख एवं शान्ति, अत्यन्त सहज हो जाती है ।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न काम-कामी ।।

—श्रीमद्भगवद्गीता, २.७०

मानापमान सहन का फल—

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुद्ध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥१६३॥

अन्वय—हि अवमतः सुखं शेते, सुखं च प्रतिबुद्ध्यते, अस्मिन् लोके सुखं चरति, अवमन्ता विनश्यति ।

शब्दार्थ—अवमतः—अपमानित व्यक्ति, प्रतिबुद्ध्यते—जागता है, अवमन्ता—अपमान करने वाला ।

हिन्दी अर्थ—अपमानित व्यक्ति (क्षमादान के अनन्तर) सुख से सोता है, सुख से जागता है तथा इस लोक में से विचरण करता है एवं अपमान करने वाला विनष्ट होता है ।

संस्कृत व्याख्या—हि—यतः, अवमतः—तिरस्कृतः, सुखं—खेदरहितं, शेते—निद्राति, सुखं—सुखपूर्वकं, च प्रतिबुद्ध्यते—जागरितः भवति, अस्मिन् लोके—दुःखविहीनं, चरति—कार्येषु व्यवहरति, च, अपमन्ता—अपमानकर्ता, तेन पापेन, विनश्यति—विनाशं गच्छति ।

विशेष—सहिष्णुता मानव आचरण का प्रधान गुण है, सहनशील मानव हृदय में अपार शान्ति का अनुभव करता है, वस्तुतः ऐसा शान्त चित्त, निर्विकार मनोवृत्ति मनुष्य वास्तव में महात्मा है और इन महनीय गुणों से सम्पन्न महात्मा ही तो ईश्वर को प्रिय है—

'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥'

—श्रीमद्भगवद्गीता, १२.१८.१९

वेदज्ञान के लिए तप का सञ्चयन—

अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः शनैः ।
गुरौ वसन्सञ्चिनुयाद्ब्रह्माधिगमिकं तपः ॥१६४॥

अन्वय—अनेन क्रमयोगेन संस्कृतात्मा द्विजः गुरौ वसन् शनैः ब्रह्माधिगमिकं तपः सञ्चिनुयात् ।

शब्दार्थ—क्रमयोगेन—संस्कार क्रम से, संस्कृतात्मा—परिष्कृत अन्तःकरण वाला, ब्रह्माधिगमिकं—वेदज्ञान की प्राप्ति कराने वाले ।

हिन्दी अर्थ—इस (पूर्व वर्णित) संस्कार क्रम से परिष्कृत अन्तःकरण वाला ब्राह्मणकुमार गुरु कुल में निवास करता हुआ धैर्यपूर्वक वेदज्ञान की उपलब्धि के लिए तप का सञ्चय करे।

संस्कृत व्याख्या—अनेन—कथितेन, क्रमयोगेन—क्रमस्य योगः, तेन, क्रमिक-संस्कारसम्पादनेन; जातकर्म संस्काराद् आरभ्य उपनयनपर्यन्तेन इत्यर्थः; संस्कृतात्मा—संस्कृतः आत्मा यस्य सः, परिष्कृतान्तःकरणः; द्विजः—ब्रह्मचारी; गुरौ—आचार्यकुले, वसन्—निवसन्, शनैः—सधैर्यं, ब्रह्माधिगमिकं—ब्रह्मणः अधिगमः येन तत्, वेदज्ञानग्राहकं; तपः—साधनां, सञ्चिनुयात्—संगृहणीत।

विशेष—यज्ञीय अग्नि को प्रदीप्त कर उसमें समिदाधान करते समय विद्यार्थी कामना करता था—हे दीप्तिमान् अग्ने! मुझे दीप्तिमान् कर। जिस प्रकार तू देवताओं के लिए यज्ञ की निधि का रक्षक है, उसी प्रकार मुझे भी मनुष्यों के लिए वेदों की निधि का रक्षक बनने का सौभाग्य प्रदान कर।

'अग्ने सुश्रवः सुश्रवसं मां कुरु यथा त्वमग्ने सुश्रवः सुश्रवा अस्येव मां सुश्रवः सौश्रवसं कुरु यथा त्वमग्ने देवानां यज्ञस्य निधिपा अस्येवमहं मनुष्याणां वेदस्य निधिपो भूयासमिति'। —पारस्कर गृह्यसूत्र, २.४.२

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य पठनीय—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥१६५॥

अन्वय—द्विजन्मना विधिचोदितैः तपोविशेषैः विविधैः व्रतैः च सरहस्यः कृत्स्नः वेदः अधिगन्तव्यः।

शब्दार्थ—विधिचोदितैः—शास्त्र में कहे गए, सरहस्यः—उपनिषद् सहित, कृत्स्नः—सम्पूर्ण।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण शास्त्रवर्णित विशिष्ट तपों व अनेक व्रतोपवासों के धारण से उपनिषद् सहित समग्र वेदों का अध्ययन करे।

संस्कृत व्याख्या—द्विजन्मना—ब्राह्मणेन, विधिचोदितैः—विधिना चोदिताः, तैः, शास्त्रनिर्दिष्टैः; तपोविशेषैः—तपसां विशेषाः तैः, इन्द्रियसंयमनादिविशिष्टोपायैः; विविधैः—बहुलैः, व्रतैः—नियमसमूहैः, सरहस्यः—रहस्येन सहितः, उपनित्सहितः, कृत्स्नः—समग्रः, वेदः—मन्त्रब्राह्मणात्मकः वेदसमुच्चयः, अधिगन्तव्यः—ज्ञातव्यः।

विशेष—कृत्स्नः वेद—आचार्य शिष्य को प्रथम दिवस से समग्र संस्कृत साहित्य के अध्ययन के लिए मानसिक रूप से पूर्ण तैयार कर देता था। एक शुभ मुहूर्त निश्चित कर यज्ञाग्नि प्रज्वलित की जाती थी। ऋग्वेद आरम्भ करने के लिए घृत की दो आहुतियां अग्नि और पृथ्वी को, यजुर्वेद आरम्भ करने के लिए अन्तरिक्ष

और वायु को, सामवेद आरम्भ करने के लिए द्यौ और सूर्य को, अथर्ववेद आरम्भ करने के लिए दिशाओं तथा चन्द्र को, सभी वेद एक साथ आरम्भ करने के लिए सभी आहुतियाँ एवं ब्रह्म छन्दस् इत्यादि के लिए भी आहुतियाँ प्रदान की जाती थीं।
—गर्ग पद्धति

सामान्य रूप से सभी वेदों की सभी शाखाओं का अध्ययन आवश्यक नहीं था। स्वकुल गोत्रानुसार एक वेद की मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शाखा का अध्ययन विशेषज्ञता के लिए पर्याप्त था।

वेदाभ्यास सर्वोत्कृष्ट तप

वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन्द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ ॥१६६॥

अन्वय—द्विजोत्तमः तपः तपस्यन् वेदम् एव सदा अभ्यस्येत्, हि इह वेदाभ्यासः विप्रस्य परं तपः उच्यते।

शब्दार्थ—तपस्यन्—तपस्या करता हुआ, अभ्यसेत्—शब्दतः तथा अर्थतः वेद को दोहराए।

हिन्दी अर्थ—ब्राह्मण तपस्या को करता हुआ वेदों का ही सर्वदा अभ्यास करे क्योंकि ब्राह्मण के लिए वेदाभ्यास ही इस संसार में सर्वोत्कृष्ट तपस्या है।

संस्कृत व्याख्या—द्विजोतमः—द्विजेषु ब्राह्मणेषु उत्तमः श्रेष्ठः, ब्राह्मणश्रेष्ठः, तपः—इन्द्रियसंयमादिसाधनां, तपस्यन्—समाचरन्, वेदम् एव, सदा—नित्यं, अभ्यस्येत्—आवर्तयेत्, हि—यतः, इह—अस्मिन् लोके, वेदाभ्यासः—वेदानाम् अभ्यासः, संहितास्वाध्यायः, विप्रस्य—द्विजस्य, परं—प्रकृष्टं, तपः—साधना, उच्यते—कथ्यते।

विशेष—तपः—कामनाओं का परित्याग करके शरीर और मन को दृढ़तापूर्वक सन्तुलित कर समाधि की अवस्था में स्थिर रखना तप है। इसके द्वारा मनुष्य में असाधारण क्षमता एवं विलक्षण ब्रह्म तेज उद्भूत होता है। वेद में कहा गया—तप ही स्वाध्याय है—'तपो हि स्वाध्याय इति श्रूयते।'

इति ब्राह्मणम्।…………अथापि वाजसनेयिब्राह्मणम्।

स्वाध्यायान्मा प्रमदः। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।
—तैत्तिरीय उपनिषद, शिक्षाध्याय वल्ली, ११.१

ब्रह्मयज्ञो ह वा एष यत्स्वाध्यायः। —आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.४.१२.१-३
स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। —शतपथ ब्राह्मण, ११.५.७

अधीयत इत्यध्यायः वेदः। स्वस्याध्यायः स्वाध्यायः स्वपरम्परागता शाखेत्यर्थः। —वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, पृ० ५०४

वेदाभ्यास प्रशंसा—

आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥१६७॥

अन्वय—यः द्विजः स्रग्वी अपि शक्तितः अन्वहं स्वाध्यायम् अधीते, स आनखाग्रेभ्यः एव ह परमं तपः तप्यते ।

शब्दार्थ—स्रग्वी—पुष्पमाला को धारण करता हुआ, शक्तितः—सामर्थ्यानुसार ।

हिन्दी अर्थ—जो ब्राह्मण पुष्पमाला को धारण करता हुआ भी प्रतिदिन शक्ति के अनुसार वेदों का स्वाध्याय करता है वह नाखून के अग्रभाग तक परम तप का अनुष्ठान करता ही है ।

संस्कृत व्याख्या—यः—द्विजः, स्रग्वी—कुसुममालाधारी, अपि—ब्रह्मचर्याचरणे मालाप्रयोगः निषिद्ध तथापि; शक्तितः—सामर्थ्यानुसारेण, अन्वहं—प्रतिदिनं, स्वाध्यायं—वेदस्यपठनं पाठनञ्च, अधीते—अभ्यासं कुरुते, सः—ब्राह्मणकुमारः, आनखाग्रेभ्यः—शिखायाः चरणनखपर्यन्तं, सर्वदेहव्यापकमित्यर्थः; एव ह—निःसन्देहं, परमंसर्वोत्कृष्टं, तपः—शरीरकार्श्यादि, तप्यते—अनुष्ठीयते ।

विशेष—स्रग्वी—ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत पुष्पमाला धारण करना निषिद्ध है अतः अभिप्राय है कि जो ब्रह्मचर्य का नियमपूर्वक पालन नहीं कर रहा है ।

आनखाग्रेभ्यः—निर्जीव नाखून भी तपस्यामय । —मेधातिथि

सम्पूर्ण देह तपोमय । —कुल्लूक भट्ट

वेदाभ्यास अनिवार्य—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥१६८॥

अन्वय—यः द्विजः वेदम् अनधीत्य अन्यत्र श्रमं कुरुते, सः जीवन् एव सान्वयः शूद्रत्वम् आशु गच्छति ।

शब्दार्थ—अनधीत्य—अध्ययन न करके, जीवन्—जीवित रहता हुआ, सान्वयः—वंश सहित ।

हिन्दी अर्थ—जो ब्राह्मण वेदाध्ययन के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में परिश्रम करता है वह जीवित रहता हुआ ही वंश सहित शीघ्र ही शूद्रत्व को प्राप्त करता है ।

संस्कृत व्याख्या—यः—द्विजः—ब्राह्मणः, वेदं—मन्त्रब्राह्मणात्मकं ग्रन्थं, अनधीत्य—अध्ययनमकृत्वा, अन्यत्र—वेदातिरिक्तशास्त्रविषयेषु श्रमं—यत्नातिशयं,

कुरुते—विदधते, सः, जीवन—प्राणान् धारयन्, एव, सान्वयः—अन्वयेन कुलेन सहितः, पुत्रपौत्रादिसहितः, शूद्रत्वं—अवरवर्णत्वं, गच्छति—प्राप्नोति ।

विशेष—शूद्रत्वम्—स्मृतियों के कथनानुसार सर्वप्रथम वेद का अध्ययन न करके अन्य कार्यों में अथवा सांख्य न्याय आदि अन्य शास्त्रों में परिश्रम करने से ब्राह्मण निन्दनीय हो जाता है। जो ब्राह्मण श्रोत्रिय (वेदज्ञानी) नहीं हैं, जो वेदाध्ययन नहीं करता है और जो अग्निहोत्र नहीं करता है वह शूद्रधर्मी हो जाता है—

'अश्रोत्रिया अननुवाक्या अनग्नयो शूद्रसधर्माणो भवन्ति ।'

—वशिष्ठ धर्मसूत्र, ३.१.२

जिस ब्राह्मण के घर में वेदाध्ययन एवं वेदी का त्याग हो गया हो, वह तीन पीढ़ियों में दुर्ब्राह्मण हो जाता है। —बौधायन गृह्यसूत्र, १.१०.५.६

ब्राह्मण के तीन जन्म—

मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीय मौञ्जबन्धने ।
तृतीयं यज्ञदीक्षायां द्विजस्य श्रुतिचोदनात् ॥१६९॥

अन्वय—श्रुतिचोदनात् द्विजस्य अग्रे अधिजननं मातुः द्वितीयं मौञ्जी बन्धने, तृतीयं यज्ञदीक्षायाम् ।

शब्दार्थ—श्रुतिचोदनात्—वेद की प्रेरणानुसार, अधिजननं—जन्म, यज्ञदीक्षायां—यज्ञ में दीक्षा ।

हिन्दी अर्थ—वेद के वचनानुसार ब्राह्मण का प्रथम जन्म माता से, द्वितीय जन्म यज्ञोपवीत से तथा तृतीय जन्म यज्ञों की दीक्षा से होता है ।

संस्कृत व्याख्या—श्रुतिचोदनात्—श्रुत्याः चोदनं तस्मात्, वेदादेशात्, द्विजस्य—ब्राह्मणस्य, अग्रे—प्रथमं, अधिजननं—उत्पत्तिः, मातुः—जनन्याः कुक्षेः, द्वितीयं—अपरं मौञ्जीबन्धने—मौञ्ज्याः बन्धनं, तस्मिन्, यज्ञोपवीतसंस्कारे, तृतीयं; अधिजननं यज्ञदीक्षायां—यज्ञस्य दीक्षा, तस्यां, ज्योतिष्टोमादियागानां दीक्षाग्रहणकाले, भवति ।

विशेष—तृतीयम् (अधिजननं)—तृतीय जन्म का कथन द्वितीय जन्म को ही अधिक सम्पुष्ट करता है क्योंकि (मौञ्जी बन्धन रूप) द्वितीय जन्म से सम्पन्न ब्रह्मचारी ही (यज्ञदीक्षा रूप) तृतीय जन्म का अधिकारी होता है। निज अर्थात् तीसरा जन्म केवल यज्ञ की दीक्षा लेने वाले ब्राह्मण का होता है। —हॉपकिन्ज

द्वितीय ब्रह्मजन्म के माता-पिता—

तत्र यद्ब्रह्मजन्मास्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितम् ।
तत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥१७०॥

अन्वय—तत्र अस्य मौञ्जीबन्धनचिह्नितं यद् ब्रह्मजन्म, तत्र सावित्री अस्य माता, आचार्यः तु पिता उच्यते।

शब्दार्थ—मौञ्जीबन्धनचिह्नितं—मेखला बन्धन के चिन्ह से युक्त, ब्रह्मजन्म—वेदज्ञान से जन्म।

हिन्दी अर्थ—पूर्वोक्त तीन जन्मों में द्विज का यज्ञोपवीत से चिह्नित जो द्वितीय ब्रह्मजन्म है उसमें सावित्री इसकी माता और आचार्य पिता है।

संस्कृत व्याख्या—तत्र—उपर्युक्तेषु त्रिषु जन्मसु, अस्य—ब्राह्मणबालकस्य, मौञ्जीबन्धनचिह्नितं—मौञ्ज्याः बन्धनं, तेन चिह्नितं, यज्ञोपवीतचिह्नाङ्कितं; यद्, ब्रह्मजन्म—ब्रह्मणे जन्म, वेद—प्राप्त्यर्थं जन्म, तत्र—तस्मिन् द्वितीयजन्मनि, सावित्री गायत्री, अस्य—अन्तेवासिनः, माता—जननी, आचार्यः—सकलपरहस्यवेदशिक्षकः, तु, पिता—जनकः, उच्यते—अभिधीयते।

विशेष—आचार्य बालक का पितृस्थानीय एवं सावित्री मातृस्थानीय माने जाते थे। शास्त्र इस विषय में स्पष्ट मत व्यक्त करता है—शिष्य पर अपना दाहिना हाथ रखने से आचार्य उसका गर्भी हो जाता है। तृतीय रात्रि में वह सावित्री सहित ब्रह्मचारी के रूप में जन्म ग्रहण करता है। —शतपथ ब्राह्मण, ११-५-४-१२।

इसीलिए गायत्री और ब्राह्मण को समान कहा गया—'गायत्री हि ब्राह्मणः।'
—शतपथ ब्राह्मण, ६.३.१.४१

आचार्य का पितृत्व—

वेदप्रदानादाचार्यं पितरं परिचक्षते।
न ह्यस्मिन्युज्यते कर्म किञ्चिदामौञ्जिबन्धनात् ॥१७१॥

अन्वय—वेदप्रदानात् आचार्यं पितरं परिचक्षते, हि अस्मिन् आमौञ्जिबन्धनात् किञ्चित् कर्म न युज्यते।

शब्दार्थ—वेदप्रदानात्—वेदाध्यापन के कारण, परिचक्षते—कहते हैं, युज्यते—सम्बद्ध होता है।

हिन्दी अर्थ—वेद का उपदेश करने के कारण आचार्य को पिता कहते हैं क्योंकि ब्राह्मण बालक को यज्ञोपवीत संस्कार के पूर्व किसी श्रौत अथवा स्मार्त्त कर्म के सम्पादन का अधिकार नहीं है।

संस्कृत व्याख्या—वेदप्रदानात्—वेदस्यप्रदानं, तस्मात्, वेदाध्यापनात्; आचार्य—शिक्षकं, पितरं—जनकं, परिचक्षते—कथयन्ति, हि—यतः, अस्मिन्—माणवके, आमौञ्जिबन्धनात्—मौञ्ज्याः बन्धनं मौञ्जीबन्धन, तदभिव्याप्य आमौञ्जीबन्धनं, तस्मात्, प्रागुपनयनात् किञ्चित् कर्म—श्रौतस्मार्तयागादिकं, न युज्यते—न सम्बध्यते।

विशेष—अनुत्पन्न एवं अनुपनीत को समान मानकर बालक का यज्ञोपवीत संस्कार द्वितीय जन्म और आचार्य को व्यावहारिक पिता कहा गया। यज्ञोपवीत संस्कार के अन्तर्गत आयोजनाएँ भी लगभग इसी उद्देश्य को दृष्टिगत करके निर्धारित की गईं। संस्कार सम्पन्न होने के पूर्व उपनयन के लिए गर्भाकार मण्डप का निर्माण किया जाता था। रात्रि को बालक के शरीर पर हल्दी का लेप किया जाता था और उसे सम्पूर्ण रात्रि मुट्ठी बाँध कर मौन रहना होता था। पीत लेप गर्भ के वातावरण का दृश्य उपस्थित करता था तथा मौन व बंधी मुट्ठी अवाक् भ्रूण का सूचक था। वास्तव में इस रूप में बालक को ज्ञानमय द्वितीय जन्म के लिए मानो आचार्य द्वारा गर्भ में धारण किया जाता था।

अनुपनीत का वेदमन्त्रोच्चारण में अनधिकार—

नाभिव्याहारयेद्ब्रह्मस्वधानिनयनादृते ।
शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते ।।१७२।।

अन्वय—स्वधानिनयनाद् ऋते ब्रह्म न अभिव्याहारयेत्, हि यावत् वेदे न जायते, तावत् शूद्रेण समः अस्ति।

शब्दार्थ—स्वधानिनयनात्—श्राद्ध निष्पादन (पितृ कर्म के मन्त्रों) के अतिरिक्त, अभिव्याहारयेत्—उच्चारण करे।

हिन्दी अर्थ—(यज्ञोपवीत संस्कार के अभाव में) स्वधानिष्पादन अर्थात् श्राद्धकर्म के मन्त्रों के अतिरिक्त अन्य कर्म में वेदमन्त्र का उच्चारण न करे क्योंकि जब तक वेद में अधिकार (यज्ञोपवीत संस्कार) नहीं होता तब तक वह शूद्र के समान है।

संस्कृत व्याख्या—(आमौञ्जीबन्धनात् इत्यनुवर्तते) स्वधानिनयनात्—स्वधा श्राद्धं निनीयते निष्पाद्यते येन मन्त्रजातेन, तस्मात् श्राद्धानुष्ठानमन्त्रात्; ऋते—अतिरिक्तं, ब्रह्म—वेदं, प्रागुपनयनं, न अभिव्याहारयेत्—न उच्चारयेत्, मृतपितृको श्राद्धादौ मन्त्रमुच्चारयेत्—तद्व्यतिरिक्तं वेदं नोदाहरेत्। हि—यस्मात्, यावत्—यावत्कालं, वेदे—वेदग्रहणाधिकारे, न, जायते—उत्पद्यते, तावत्—तावत्कालपर्यन्तं, सः द्विज, शूद्रेण—निकृष्टवर्णेन, समः—तुल्यः अस्ति।

विशेष—न अभिव्याहारयेत्—श्राद्ध कर्म अन्य द्वारा करना असम्भव होने से अनुपनीत भी कर सकता है। शब्द में प्रेरणार्थक णिच् प्रत्यय के प्रयोग से ज्ञात होता है कि पिता के द्वारा बालक को वेदाक्षरों का उच्चारण नहीं करवाना चाहिए।

उपनीत का वेदाधिकार—

कृतोपनयनस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ।।१७३।।

अन्वय—कृतोपनयनस्य अस्य व्रतादेशनं क्रमेण विधिपूर्वकं ब्रह्मणः ग्रहणं च एव इष्यते ।

शब्दार्थ—व्रतादेशनं—व्रतों का आदेश, इष्यते—इष्ट है ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी को यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न होने के पश्चात् ही (भूमिशयन, समिधाहरण, सन्ध्योपासना आदि रूप) व्रतों का क्रमशः (आचमन, पूर्वाभिमुख, ब्रह्माञ्जलि एवं प्राणायामपूर्वक) आचरण एवं विधिवत् (मन्त्रब्राह्मणात्मक) वेद का अध्ययन अभीष्ट है ।

संस्कृत व्याख्या—कृतोपनयनस्य—कृतं उपनयनं यस्य, तस्य, उपनीतस्य; अस्य—द्विजकुमारस्य, व्रतादेशन—व्रतस्य आदेशन, समिधाहरण भूमिशयनसन्ध्योपासनदिवाजागरणादिकं कर्म; क्रमेण—आचान्तं, उदङ्मुख, ब्रह्माञ्जलिकृतं परिपालन, विधिपूर्वकं—मन्त्रब्राह्मणक्रमेण, ब्रह्मणः—वेदस्य, ग्रहणं—अध्ययन, च एव इष्यते—अपेक्ष्यते ।

विशेष—व्रतादेशन—अनेक अर्थों में गृहीत है—मधु, मांस परित्याग के नियम, चान्द्रायण प्राजापत्य आदि प्रायश्चित्त व्रत नियम, समिदाधान, निद्रात्याग, गोदान आदि संकल्प ।

ब्रह्मचर्य चिह्नों का व्रत में विधात्—

यद्यस्य विहितं चर्म यत्सूत्रं या च मेखला ।
यो दण्डो वसनं तत्तदस्य व्रतेष्वपि ॥१७४॥

अन्वय—यस्य यत् चर्म यत् सूत्रं, या च मेखला, यः दण्डः, यत् च वसनं विहितं तत् अस्य व्रतेषु अपि (ज्ञेयम्) ।

शब्दार्थ—सूत्र—यज्ञोपवीत (जनेऊ) विहितं निर्धारित है ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी का जो धर्म, जो सूत्र, जो मेखला, जो दण्ड और जो वस्त्र निर्धारित है, वह उसे व्रतों में भी ग्रहण करना चाहिए ।

संस्कृत व्याख्या—यस्य—ब्राह्मणकुमारस्य, यत्, चर्म—अजिनं, यत्, सूत्रं—यज्ञोपवीतं, च, मेखला—रशना, यः, दण्डः—यष्टिका, यत्च, वस्त्र, विहितं—निर्धारितं, तत् तत्, अस्य—द्विजबालकस्य, व्रतेषु—नियमसाधनेषु, अपि, ज्ञेयम् ।

विशेष—व्रतेषु—अनेक गृह्यसूत्रों में सोलह संस्कारों के अन्तर्गत चारवेदव्रत नामक संस्कार हैं—महानाम्नी व्रत, महाव्रत, उपनिषद् व्रत एवं गोदान व्रत ।

प्रथमं स्यान्महानाम्नी द्वितीयं स्यान्महाव्रतम् ।
तृतीयं स्यादुपनिषद् गोदानाख्यन्ततः परम् ॥

—**आश्वलायन गृह्यसूत्र**

महर्षि मनु का अभिप्राय: है कि इन चारों व्रतों में प्रत्येक व्रत के प्रारम्भ में ब्रह्मचारी को नवीन मृगचर्म, यज्ञोपवीत, मेखला आदि धारण करनी चाहिए।

गुरुकुल में नियम पालन—

सेवेतेमांस्तु नियमान्ब्रह्मचारी गुरौ वसन्।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तपोवृद्ध्यर्थमात्मन: ॥१७५॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) गुरौ वसन् आत्मन: तपोवृद्ध्यर्थम् इन्द्रियग्रामं सन्नियम्य इमान् नियमान् तु सेवेत।

शब्दार्थ—तपोवृद्ध्यर्थं—तपस्या की वृद्धि के लिए, सन्नियम्य—वश में करके।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी गुरुकुल में निवास करता हुआ अपनी तपस्या की वृद्धि के लिए इन्द्रिय समूह को सम्यक् रूप से नियन्त्रित करके (आगे कहे गए) इन नियमों का पालन करे।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी—वटु:, गुरौ—गुरुकुले गुरुसान्निध्ये वा, वसन्—वासं कुर्वन्, आत्मन:—स्वस्य, तपोवृद्ध्यर्थं—तपस: वृद्ध्यर्थं, तपस्सम्वर्धनाय: इन्द्रियग्रामं—इन्द्रियाणां ग्रामं, तं, इन्द्रिय—समूहं; संयम्य—नियन्त्रितं कृत्वा, इमान् वक्ष्यमाणान्, नियमान्—आदेशवाक्यान्, सेवेत—परिपालयेत्।

ब्रह्मचारी के नित्य कर्म—

नित्यं स्नात्वा शुचि: कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥१७६॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) नित्यं स्नात्वा शुचि: देवर्षिपितृतर्पणं देवताभ्यर्चनं समिदाधानं च कुर्यात्।

शब्दार्थ—स्नात्वा—स्नान करके, देवताभ्यर्चनं—देवताओं का पूजन।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी नित्य स्नान करके (आचमन आदि से) पवित्र होकर देवों, ऋषियों तथा पितरों का तर्पण, देवताओं का पूजन एवं समिधाओं का आधान (होम) करे।

संस्कृत व्याख्या—नित्यं—प्रतिदिनं, स्नात्वा—स्नानं कृत्वा, शुचि:—पवित्रो स्वच्छो वा भूत्वा, देवर्षिपितृतर्पणं—देवाश्च ऋषयश्च पितरश्च इति देवर्षिपितर:, तेभ्य: तर्पणं, तत्, उदकदानं, देवताभ्यर्चनं—देवतानाम् अभ्यर्चनं, इष्टदेवप्रतिमापूजनं समाप्य, समिदाधानं—समिदाम्, आधानं—यज्ञाग्नौ सायम्प्रातश्च समिद्धोमं, च, कुर्यात्—सम्पादयेत्।

विशेष—स्नात्वा—देह और मन दोनों की शुद्धि के लिए स्नान अनिवार्य है। विद्यार्थी को स्नान के लिए गर्म जल का प्रयोग नहीं करना चाहिए, यदि अंग

अधिक गन्दे हों तो उन्हें गुरु से छिपा कर मर्म जल से धो लेना चाहिए। विद्यार्थी को क्रीडापूर्वक स्नान न करके पानी में डण्डे के समान स्नान करना चाहिए—'नाप्सु श्लाघमानः स्नायात्'—बौधायन स्मृति। 'अप्सु दण्डवन्मज्जनम्'—विष्णु स्मृति।

देवर्षिपितृतर्पणम्—बालक जन्म लेता है तो तीन वर्गों के व्यक्तियों का ऋणी होता है—ब्रह्मचर्य में ऋषियों के प्रति, यज्ञ में देवों के प्रति तथा सन्तति में पितरों के प्रति। जो पुत्रवान् होता है, जो यजमान होता है और जो ब्रह्मचारी होता है वह अनृणी हो जाता है—'जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवांजायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः।

—तैत्तिरीय संहिता, ६.३.१०.५

ब्रह्मचारी के निषिद्ध कर्म—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥१७७॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) मधु मांसं गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः च यानि सर्वाणि शुक्तानि, प्राणिनां हिंसनं एव वर्जयेत्।

शब्दार्थ—मधु—मदिरा, रसान्—षड्रस, शुक्तानि—विकृत (अम्लत्व को प्राप्त) पदार्थ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी मदिरा, मांस, सुगन्धित द्रव्य (चन्दन, कर्पूर, कस्तूर, इत्र, तैल आदि), पुष्पमाला षड्रस (मधुर, अम्ल, कटु, कषाय, तिक्त, लवण), नारी, विकृत पदार्थ (दही, अचार, सिरका आदि) तथा प्राणिहिंसा का परित्याग कर दे।

संस्कृत व्याख्या—मधु—मद्यपानं, मांसं—पिशिताशनं, गन्धं—सुगन्धित-द्रव्यप्रयोगं (चन्दनकर्पूरतैलादिकं, माल्यं—कुसुममालाधारणं, रसान्—षड्रसभक्षणं मधुराम्लकटुकषायातिक्तलवणादिकं, स्त्रियः—रमण्युपभोगं, च, यानि सर्वाणि, शुक्तानि—कालवशेन विकृत्याम्लीभूतानि वस्तूनि, प्राणिनां—जीवानां, हिंसनं—क्लेशनं, चैव, वर्जयेत्—परित्यजेत्।

विशेष—शुक्त—परिभाषा—

शुक्त वे पदार्थ हैं जो काल के अन्तराल से खट्टे हो जाते हैं, यथा दही आदि अथवा स्वाद में विकृत होने लगते हैं, यथा बासी भोजन आदि। सभी टीकाकार दोनों ही प्रकार के भोजन का स्वास्थ्य की दृष्टि से निषेध करते हैं। शुक्त पद का एक अर्थ है—रूक्ष—रूखी अथवा कठोर वाणी, अप्रिय एवं कठोर वचन भी ब्रह्मचारी के लिए निषिद्ध है।

—गौतम स्मृति, २.२६

ब्रह्मचारी के लिए श्लोक में पठित सभी वस्तुओं के उपयोग योग्य, सरस एवं रुचि कर अंश का निषेध है, दर्शन आदि का नहीं क्योंकि वह तो, स्वाभाविक है।

'कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च ।
यत्तद्द्रव्येऽधिसूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते' ॥

गुण—

'शुक्तं तीक्ष्णोष्णलवणं पित्तकृत् कटुकं लघु ।
रूक्षं कृम्यज्वरानाहशोथार्शोविषकुष्ठनुत्' ॥

ब्रह्मचारी के निषिद्ध कर्म—

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥१७८॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) अभ्यङ्गम्, अक्ष्णोः अञ्जनं च उपानत् छत्र धारणं कामं क्रोधं च, लोभं, नर्तनं, गीतवादनं च (वर्जयेत्) ।

शब्दार्थ—अभ्यङ्गं—शरीरमर्दन, अक्ष्णोः—आँखों में, उपानत्—चरण-पादुका ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी सर्वांग तैलमर्दन, आँखों में आँजन, जूते, छाता, काम, क्रोध, लोभ, नृत्य, गीत और वादन इनका परित्याग कर दे ।

संस्कृत व्याख्या—अभ्यङ्गं—अभ्यज्यतेऽनेनेति, तैलोद्वर्तनादिना शरीरानुलेपनं; अक्ष्णोः—नेत्रयोः, अञ्जनं—कज्जलं, उपानत् छत्रधारणं—उपानत् च छत्रं च तयोः धारणं, पादुकातपत्रग्रहणं; कामं—विषयभोगसुखं, क्रोधं—कोपं, च लोभं—परद्रव्याभिलाषं, नर्तनं—हावभावपूर्वकाङ्गविक्षेपणं, गीतवादनं—गीतं च वादनं च अनयोः समाहारः, गायनं वाद्यसञ्चालनं; च, वर्जयेत् ।

विशेष—उपानत्, छत्र—ऋतुओं की प्रखरता को सहने की क्षमता उद्भूत हो अतः इनके उपयोग का निषेध किया गया ।

ब्रह्मचारी के निषिद्ध कर्म—

द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥१७९॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) द्यूतं जनवादं च, परिवादं तथा अनृतं च, स्त्रीणां प्रेक्षणालम्भं च, परस्य उपघातं च (वर्जयेत्) ।

शब्दार्थ—जनवादं—लोगों से बातचीत, कलह आदि, अनृतं—असत्य, आलम्भं—आलिङ्गन, उपघातं—हानि ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी जुआ, लोगों के साथ विवाद, निन्दा, असत्यभाषण स्त्रियों का दर्शन एवं आलिङ्गन तथा दूसरों को हानि पहुँचाना छोड़ दे ।

संस्कृत व्याख्या—द्यूतं—अक्षक्रीडां, जनवादं—जनैः सह विवादं वाक्कलहं; च, परिवादं—परदोषकथनं, तथा, अनृतं—असत्यं, च, स्त्रीणां—नारीणां, प्रेक्षणालम्भं—प्रेक्षणं च आलम्भं च अनयोः समाहारः, सानुरागं दर्शनस्पर्शनं, परस्य—अन्यजनस्य, उपघातं—कार्यहानिम् अपकारं वा च, वर्जयेत् ।

विशेष—विद्यार्थी को असत्य भाषण नहीं करना चाहिए, प्रतिदिन स्नान करना चाहिए, सूर्य की ओर नहीं देखना चाहिए तथा मधु सेवन, मांस, इत्र, पुष्पसेवन, दिनशयन, तेलमर्दन, अंजन, यान-यात्रा, उपानह, छाता, प्रेम व्यवहार, क्रोध, लालच, मोह, व्यर्थविवाद, वाद्ययन्त्र वादन, गर्म जल में आनन्ददायक स्नान, सावधानी से दाँत स्वच्छ करना, मन को उल्लास पूर्ण स्थिति, नाच-गान, दूसरों की भर्त्सना, भयावह स्नान, नारियों को घूरना या युवानारियों को छूना, जुआ, क्षुद्र पुरुष की सेवा, पशु हनन, अश्लील वार्तालाप, आसव सेवन आदि से दूर रहना चाहिए ।

—गौतम धर्मसूत्र, २.१३-२५

वीर्यपात का निषेध—

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥१८०॥

अन्वय—सर्वत्र एकः शयीत, क्वचित् रेतः न स्कन्दयेत्, हि कामात् रेतः स्कन्दयन् आत्मनः व्रतं हिनस्ति ।

शब्दार्थ—एकः—अकेला, शयीत—सोए, रेतः—वीर्य, स्कन्दयेत्—स्खलित करे, हिनस्ति—नाश करता है ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी सर्वत्र अकेला सोए, कभी वीर्यपात न करे क्योंकि स्वेच्छा से वीर्यस्खलन करने पर वह अपने व्रत से च्युत होता है ।

संस्कृत व्याख्या—सर्वत्र—सर्वेषु कालेषु स्थानेषु वा एकः—एकाकी, शयीत—निद्रां लभेत्, क्वचित्—कुत्रापि, रेतः—शुक्रं, न स्कन्दयेत्—न स्खलयेत्, हि—यतः, कामात्—स्वेच्छया, रेतः—वीर्यं, स्कन्दयन्—पातयन्, आत्मनः—स्वस्य, व्रतं—ब्रह्मचर्यं, हिनस्ति—नाशयति ।

विशेष—विद्यार्थी को सम्प्रयोग से नितान्त दूर रहना चाहिए, स्त्रियों से सभी बात करे जब अत्यावश्यक हो ।

—आपस्तम्ब धर्मसूत्र १.१.२.२६

स्वप्नदोष की प्रायश्चित्त विधि—

स्वप्ने सिक्त्वा ब्रह्मचारी द्विजः शुक्रमकामतः ।
स्नात्वार्कमर्चयित्वा त्रिः पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥१८१॥

अन्वय—ब्रह्मचारी द्विजः अकामतः स्वप्ने शुक्रं सिक्त्वा, स्नात्वा, अर्कम् अर्चयित्वा 'पुनःमाम्' इति ऋचं त्रिः जपेत्।

शब्दार्थ—अकामतः—अनिच्छा से, शुक्रं—वीर्य को, सिक्त्वा—स्खलित कर, ऋचं—मन्त्र को।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी ब्राह्मण, बिना इच्छा के स्वप्न में वीर्य स्खलित होने पर, स्नान कर, सूर्य का पूजन कर, 'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्' इस ऋचा का तीन बार पाठ करे।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी द्विजः—ब्राह्मणकुमारः, अकामतः—अनिच्छया, स्वप्ने—स्वप्नदर्शने, शुक्रं—वीर्यं, सिक्त्वा—स्खलित्वा, स्नात्वा—स्नानं कृत्वा, अर्कं—सूर्यं, अर्चयित्वा—पुष्पोदकधूपादिभिः सम्पूज्य, 'पुनर्माम्' इति, ऋचं—ऋङ्मन्त्रं, त्रिः—वारत्रयं, जपेत्—पठेत्।

विशेष—विद्यार्थी को कठोरतापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए किन्तु यदि प्राकृतिक रूप से व्रतभंग हो तो प्रायश्चित्त स्वरूप स्नान, सूर्य पूजन एवं निम्न मन्त्र पाठ से शरीर-मन-प्राण की शुद्धि का विधान है—

> पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
> पुनरग्नयो धिष्ठाया यथास्थाम कल्पयातामिहैव॥'
>
> —अथर्ववेद, ७.६७.१

ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य—

> **उदकुम्भं सुमनसो गोशकृन्मृत्तिकाकुशान्।**
> **आहरेद्यावदर्थानि भैक्षं चाहरहश्चरेत्॥१८२॥**

अन्वय—(ब्रह्मचारी) उदकुम्भं, सुमनसः, गोशकृत्-मृत्तिका-कुशाम्, यावद्-अर्थानि आहरेत्, अहरहः भैक्षं च चरेत्।

शब्दार्थ—उदकुम्भं—जलपूर्ण घट, गोशकृत्—गोबर, यावदर्थानि—प्रयोजनानुरूप।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी जल से भरा घड़ा, पुष्प, गोबर, मिट्टी तथा कुश (गुरु के) प्रयोजनानुरूप लाये और प्रतिदिन भिक्षाचरण भी करे।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, उदकुम्भं—उदकस्य कुम्भं, सजलकलशं; सुमनसः—पुष्पाणि, गोशकृतमृत्तिकाकुशान्—गोशकृतश्च मृत्तिकाश्च कुशाश्च तान्, गोमयमृत्पिंडदर्भान्; यावदर्थानि—यावन्ति अर्थानि, यथावश्यकानि, आहरेत्—आनयेत्, अहरहः—प्रतिदिवसं, भैक्षं—भिक्षाटनं, च, चरेत्—अर्जयेत्।

विशेष—ये उपर्युक्त सभी कर्म उपलक्षण मात्र हैं, अन्य गृहोपयोगी कर्म भी करे किन्तु उच्छिष्ट साफ करना आदि कर्म न करे। —मेधातिथि

भिक्षार्थ गृह चयन—

वेदयज्ञैरहीनानां प्रशस्तानां स्वकर्मसु ।
ब्रह्मचार्याहरेद्भैक्षं गृहेभ्यः प्रयतोऽन्वहम् ॥१८३॥

अन्वय—ब्रह्मचारी वेदयज्ञैः अहीनानां, स्वकर्मसु प्रशस्तानां, गृहेभ्यः अन्वहं प्रयतः भैक्षम् आहरेत् ।

शब्दार्थ—अहीनानां—जो वञ्चित न हो, प्रशस्तानां—अपनी वृत्ति में सन्तुष्ट पुरुषों के, प्रयतः—नियमपूर्वक, संयमपूर्वक ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी वेदाभ्यास एवं पञ्चमहायज्ञों के अनुष्ठान में तत्पर तथा स्ववर्णाश्रम धर्म के सम्पादन में सन्तुष्ट, लोगों के घरों से प्रतिदिन नियमपूर्वक भिक्षा माँग कर लाये ।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी—वटुः, वेदयज्ञैः—वेदाश्च यज्ञाश्च, तैः, वेदाध्ययनबलिवैश्वदेवातिथिभोजनादिभिः, अहीनानां—तत्पराणां, स्वकर्मसु—स्वस्य कर्माणि, तेषु, स्ववर्णाश्रम—विहितकर्त्तव्यानुष्ठानेषु; प्रशस्तानां—सन्तुष्टानां प्रकर्षेण तत्पराणां वा, गृहेभ्यः—भवनेभ्यः, अन्वहं—प्रतिदिनं, प्रयतः—नियमतः, जितेन्द्रियः वा, भैक्षं—भिक्षासमूहं, आहरेत्—आनयेत् ।

विशेष—उपर्युक्त पुरुष शुद्ध जीविका वाले हैं, पाप वृत्ति वाले नहीं, अतः भोजन ग्रहण में दोष नहीं है । गृहस्थ को प्रतिदिन वैश्वदेव के यज्ञ एवं भूतों की बलि के पश्चात् 'स्वस्ति' शब्द एवं जल के साथ भिक्षा देनी चाहिए ।

—गौतम, ५.१६

यतियों एवं ब्रह्मचारियों को भिक्षा आदर एवं स्वागत के साथ देनी चाहिए ।

—मनु, ३.९४

भिक्षा के अयोग्य स्थान—

गुरोः कुले न भिक्षेत न ज्ञातिकुलबन्धुषु ।
अलाभे त्वन्यगेहानां पूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ॥१८४॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) गुरोः कुले न भिक्षेत, ज्ञातिकुलबन्धुषु न (भिक्षेत्), अन्यगेहानाम् अलाभेतुपूर्वं पूर्वं विवर्जयेत् ।

शब्दार्थ—गेहानां—घरों का, अलाभ—उपलब्ध न हो ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी आचार्य के कुल में भिक्षा न माँगे, समान जाति, वंश तथा बन्धु-बान्धवों से भिक्षा न माँगे । भिक्षायोग्य अन्य गृह न मिलने पर पूर्व-पूर्व का परित्याग कर दे ।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, गुरोः—आचार्यस्य, कुले—सपिण्डे, न, भिक्षेत—याचेत, ज्ञातिकुलबन्धुषु—ज्ञातयश्च कुलानि च बन्धवश्च तेषु, सगोत्र—वंशसहोदरादिषु, न, भिक्षेत्, अन्यगेहानां—अन्यानि च तानि गेहानि तेषां, परगृहाणां; अलाभे—अप्राप्तौ, तु, पूर्वं पूर्वं—प्रथमं प्रथमं, विवर्जयेत्—परित्यजेत्, प्रथमं बन्धून् तत्राप्राप्ते वंशान् तत्राप्राप्ते ज्ञातीन् तत्राप्यप्राप्ते गुरून् याचेत इत्यभिप्रायः।

विशेष—अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी योग्य गृह के अभाव में बान्धवगृह में, बान्धवगृह के अभाव में, कुल में, कुलाभाव में, जाति में तथा जाति के अभाव में, अन्त में गुरुकुल में भिक्षाटन करे।

सम्पूर्ण ग्राम भिक्षा के योग्य—

सर्वं वाऽपि चरेद् ग्रामं पूर्वोक्तानामसम्भवे।
नियम्य प्रयतो वाचमभिशस्तांस्तु वर्जयेत् ॥१८५॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) पूर्वोक्तानां असम्भवे प्रयतः वाचं नियम्य सर्वं ग्रामं अपि वा (भिक्षार्थं) चरेत्, अभिशस्तान् तु वर्जयेत्।

शब्दार्थ—पूर्वोक्तानां—पहले कहे हुओं के, नियम्य—संयमित करके, अभिशस्तान्—महापातकग्रस्त पुरुषों को।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी पूर्वोक्त योग्य गृहों के अभाव में संयमपूर्वक वाणी का नियमन कर अर्थात् मौन धारण कर सम्पूर्ण ग्राम में भिक्षाटन करे किन्तु महापातकियों के गृहों को छोड़ दे।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, पूर्वोक्तानां—वेदयज्ञैः अहीनानां, असम्भवे—अभावे, प्रयतः—संयमतः, वाच—वाणीं, नियम्य—अवरुध्य, सर्वं—निखिलं, ग्रामं—वासस्थानं, भिक्षार्थं, चरेत्—विहरेत्, अभिशस्तान्—महापातकादिनिन्दितान्, वर्जयेत्—परित्यजेत्।

विशेष—अभिशस्त—महापातकों की गणना निम्न श्लोक में द्रष्टव्य है—

'ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥'

—मनुस्मृति, ११.५४

ब्रह्महत्या करना, निषिद्ध मद्य का पान, ब्राह्मण के सुवर्ण की चोरी, गुरु की पत्नी के साथ समागम और इन चारों में से एक के साथ भी एक वर्ष तक संसर्ग—ये पाँच महापातक हैं।

ब्रह्मचारी अपपात्रों (चाण्डाल आदि) एवं अभिशस्तों (महापातकों, अपराधियों) को छोड़ कर किसी से भी भोजन माँग सकता है।

—आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.१.३.२५

शूद्रों से भोजन माँगना निषिद्ध है। —याज्ञवल्क्य स्मृति, १.२९

आपत्तकाल में भी शूद्र के यहाँ का पका भोजन सर्वथा अग्राह्य है।

—पराशर माधव, १.२

वाचं नियम्य—केवल भिक्षा वाक्य का उच्चारण करे, अन्य वार्तालाप निषिद्ध है। —मेधातिथि

अभिशस्तान्—'सार्ववर्णिकं भैक्ष्यचरणमभिशस्तपतितवर्जम्।'

—गौतम स्मृति, २.३५

समिधा चयन एवं दान—

दूरादाहृत्य समिधः सन्निदध्याद्विहायसि।
सायम्प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः ॥१८६॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) दूरात् समिधः आहृत्य विहायसि सन्निदध्यात् अतन्द्रितः ताभिः सायं प्रातश्च अग्नि जुहुयात्।

शब्दार्थ—विहायसि—खुले आकाश में अथवा ऊँचे स्थान पर, अतन्द्रितः—आलस्यहीन, जुहुयात्—आहुति दे।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी दूर से समिधाएँ लाकर आकाश अर्थात् खुले व ऊँचे स्थान पर रखे, आलस्यरहित होकर उन समिधाओं से सायंकाल व प्रातः अग्नि में हवन करे।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, दूरात्—दूरदेशस्थवृक्षात्, समिधः—काष्ठानि, आहृत्य—आनीय, विहायसि—आकाशे आकाशस्थपटलादौ मञ्चादौ वा, सन्निदध्यात्—संस्थापयेत्, अतन्द्रितः—अप्रमादः सन्, ताभिः—अरणीभिः, सायं प्रातश्च—उभयोः सन्ध्याकालयोः, अग्नि जुहुयात्—अग्निहोत्रं कुर्यात्।

विशेष—**दूरात्**—आश्रम के चारों ओर हरीतिमा विद्यमान रहे अतएव आश्रम से दूर स्थित अरण्यादि के वृक्षों से समिधा लाने का आदेश है। अरण्यादि पर व्यक्ति विशेष का स्वामित्व भी नहीं होता है।

विहायसि—भूमि पर रखने से भूमि मलिन होगी, समिधा चरण-स्पर्श आदि दोषों से दूषित होगी तथा गीली लकड़ी भली-भाँति सूख जाए। अतः समिधा ऊँचे मञ्च पर रखे अथवा रस्सी में बाँध कर टाँग दे।

समिधः—प्राचीन भारत में अग्निहोत्र के अनुष्ठान के लिए समिधाहरण विद्यार्थी का आवश्यक कर्त्तव्य था। समिधा मुख्यतः पलाश की, पलाश के अभाव में खदिर, शमी, रोहितक, अश्वत्थ, अर्क, वेतस, न्यग्रोध, प्लक्ष, उदुम्बर, बिल्व, चन्दन, शाल, देवदार आदि वृक्षों की हो सकती है। —ब्रह्मपुराण

समिधा का व्यास अंगूठे के बराबर होना चाहिए, यह बिना छीली हुई व बिना कीड़ा लगी हुई होनी चाहिए, इसके टुकड़े नहीं होने चाहिए, पत्तियाँ नहीं होनी चाहिए व पर्याप्त मजबूत होनी चाहिए। इसकी लम्बाई एक प्रादेश (अंगूठे से लेकर तर्जनी तक) होनी चाहिए।

—त्रिकाण्डमण्डन, २.८२-८४

नियम भंग में अवकीर्णी व्रत—

अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥१८७॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) अनातुरः (सन्) सप्तरात्रं भैक्षचरणम् अकृत्वा, पावकम् असमिध्य च अवकीर्णिव्रतं चरेत्।

शब्दार्थ—अनातुरः—रोगरहित, असमिध्य—समिधाएँ न देकर, अवकीर्णिव्रतं—नियम भंग पाप का प्रायश्चित्त।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी नीरोग रहकर सात रात्रियों तक भिक्षार्जन न करके, अग्नि को समिधाओं से न जला करके, प्रायश्चित्त रूप में अवकीर्णि व्रत करे।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, अनातुरः—न आतुरः, अरोगः स्वस्थः वा; सन्, सप्तरात्रं—सप्तनां रात्रीणां समाहारः, सप्तरात्रिपर्यन्तं; भैक्षचरणं—भिक्षाणां समूहः भैक्षं, तस्य चरणं, भिक्षाहारं; अकृत्वा—असम्पादयित्वा, पावकं—अग्निं, असमिध्य—समिद्भिः होत्रमकृत्वा, च, अवकीर्णिव्रतं—ब्रह्मचर्यव्रतलोपप्रायश्चित्तं, चरेत्—कुर्यात्।

विशेष—आश्रम की सुव्यवस्था के लिए भिक्षाचरण व समिधाहरण अपरिहार्य थे किन्तु रोगी होने की अवस्था में इन कर्त्तव्यों के पालन में प्रमाद क्षम्य था। स्वस्थ ब्रह्मचारी द्वारा अधिकतम सात दिन का व्यवधान होने पर प्रायश्चित्त हेतु अवकीर्णिव्रत (अग्नि में आज्याहुति) का विधान था।

अवकीर्णिव्रतम्—अवकीर्णमनेन इति, येन नियमभंगः कृतः सः अवकीर्णि।

'अवकीर्णि क्षतव्रत इति अमरः।'

'अवकीर्णी भवेद्गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम्।
गर्दभं पशुमालभ्य नैर्ऋतं स विशुध्यति ॥'

—याज्ञवल्क्य स्मृति, ३.२८०

प्रायश्चित्त विधि—

'अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥
हुत्वाग्नौ विधिवद्धोमानन्तश्च समित्यृचा।
वातेन्द्रगुरुवह्नीनां जुहुयात्सर्पिषाहुतीः ॥'

—मनुस्मृति, ११.११८-११९

भिक्षान्न पर निर्भरता पुण्यप्रद—

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नादी भवेद्व्रती ।
भैक्षेण व्रतिनो वृत्तिरुपवाससमा स्मृता ।।१८८।।

अन्वय—व्रती भैक्षेण नित्यं वर्तयेत्, एकान्नादी न भवेत्, व्रतिनः भैक्षेण वृत्तिः उपवाससमा स्मृता ।

शब्दार्थ—भैक्षेण—भिक्षा में प्राप्त, एकन्नादी—एक व्यक्ति का अन्न खाने वाला ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी भिक्षा में प्राप्त आहार से नित्य प्रति निर्वाह करे, किसी एक अन्न का अथवा एक व्यक्ति के अन्न का भोजन न करे। ब्रह्मचारी की भिक्षान्न वृत्ति उपवास के समान फलदायी कही गई है ।

संस्कृत व्याख्या—व्रती—व्रतमस्यास्तीति, ब्रह्मचारी; भैक्षेण—भिक्षाणां समूहः तेन, भिक्षाहारेण; नित्यं—प्रत्यहं; वर्तयेत्—स्वजीवननिर्वाहं कुर्यात्, एकान्नादी—एकस्य अन्नम् एकान्नम्, एकान्नम् अत्तीति, एकगृहप्रदत्ताहार्यभोजी; न, भवेत्—स्यात्, व्रतिना—ब्रह्मचारिणः, भैक्षेण—भिक्षालब्धान्नेन, वृत्तिः—जीविका, उपवाससमा—उपवासेन समा, उपवासतुल्यफलप्रदा; स्मृता—प्रसिद्धा ।

विशेष—भैक्षेण - कुछ विद्वानों के अनुसार भिक्षान्न सिद्ध अर्थात् पका हुआ होना चाहिए जबकि कुछ शुद्धता के लिए स्वपाकी होने पर बल देते हैं । ब्रह्मचारी को थोड़ा-थोड़ा कई गृहों से भोजन माँगना चाहिए । मिताक्षरा ने एक ग्रास (कौर) की भिक्षा की चर्चा की है, एक ग्रास मोर के अण्डे के बराबर होता है—

'भिक्षा च ग्रास ग्राससम्मिता ।
ग्रासस्च मयूराण्डपरिमाणः ।।'

—याज्ञवल्क्य, १.१०८

न भैक्ष्यं परपाकः स्यान्न च भैक्ष्यं प्रतिग्रहः ।
सोमपानसमं भैक्ष्यं तस्माद् भैक्षेण वर्तयेत् ।।९।।
भैक्षस्यागमशुद्धस्य प्रोक्षितस्य हुतस्य च ।
यांस्तस्य ग्रसते ग्रासांस्ते तस्य क्रतुभिः समाः ।।१०।।

दूसरे के द्वारा पकाया गया तथा प्रतिग्रह (दान) भिक्षान्न नहीं माना जाता, भिक्षान्न सोमपान के समान है अतः ब्रह्मचारी भिक्षावृत्ति करे ।

आगम (उपार्जन) से शुद्ध, प्रोक्षित (जल छिड़के हुए) तथा हवन किए हुए भिक्षान्न के जिन ग्रासों को ब्रह्मचारी खाता है, वे ग्रास यज्ञों के समान (पवित्र) हैं ।

यथेष्ट भोजन विधान—

व्रतवद्देवदैवत्ये पित्र्ये कर्मण्यथर्षिवत् ।
काममभ्यर्थितोऽश्नीयाद्व्रतमस्य न लुप्यते ।।१८९।।

अन्वय—अथ (ब्रह्मचारी) देवदैवत्ये अभ्यर्थितः व्रतवत्, पित्र्ये कर्मणि (अभ्यर्थितः) ऋषिवत् कामम् अश्नीयात् । अस्य व्रतं न लुप्यते ।

शब्दार्थ—देवदैवत्ये—देवता को लक्ष्य करके, पित्र्ये—पितृ सम्बन्धी, कामं—इच्छानुसार ।

हिन्दी अर्थ—और ब्रह्मचारी देवतानिमित्तक कर्म में (यजमान द्वारा) निमन्त्रित होने पर ब्रह्मचर्य नियमानुरूप एवं पितृकार्य (श्राद्ध) में निमन्त्रित होने पर ऋषियों के सदृश (मधुमांसादि वर्जित) यथेष्ट भोजन करे, इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत का लोप नहीं होता है ।

संस्कृत व्याख्या—अथ, देवदैवत्ये—देवः देवता, अस्येति देवदैवत्यं, तस्मिन् कर्मणि, देवतामुद्दिश्य आयोजिते ब्राह्मणभोजे; अभ्यर्थितः—यजमानेन प्रार्थितः, व्रतवत्—ब्रह्मचर्यनियमानुसारं सात्विकभोजनं, पित्र्ये कर्मणि—पितुः भवं पित्र्यं, तस्मिन्, श्राद्धादौ, अभ्यर्थितः, ऋषिवत्—ऋषिणा तुल्यं निरामिषभोजनं, कामं—यथेप्सितं, अश्नीयात्—भुञ्जीत, अस्य—ब्रह्मचारिणः, व्रतं—ब्रह्मचर्याश्रमं, न, लुप्यते—विलुप्तो भवति ।

विशेष—ब्रह्मचारी एक गृह प्रदत्त अन्न का अवलम्बन न ले किन्तु आदित्य आदि देव पूजन या पितरों के श्राद्धकाल में निमन्त्रित होने पर किसी एक व्यक्ति के यहाँ भर पेट भोजन कर सकता है—

'ब्रह्मचर्ये स्थितो नैकमन्नमद्यादनापदि ।
ब्राह्मणः काममश्नीयाच्छ्राद्धे व्रतमपीडयन् ।।'

—याज्ञवल्क्य स्मृति, १.३४

भोजन का अधिकारी केवल ब्राह्मण—

ब्राह्मणस्यैव कर्मैतदुपदिष्टं मनीषिभिः ।
राजन्यवैश्ययोस्त्वेवं नैतत्कर्म विधीयते ।।१९०।।

अन्वय—मनीषिभिः एतत् कर्म ब्राह्मणस्य एव उपदिष्टं, राजन्यवैश्ययोः तु एतत् कर्म एवं न विधीयते ।

शब्दार्थ—मनीषिभिः—विद्वानों के द्वारा, एतत्—ब्रह्मभोज ।

हिन्दी अर्थ—मनीषियों ने इस (देवपूजन व श्राद्धकाल में आयोजित ब्रह्मभोज) कर्म का केवल ब्राह्मण के लिए उपदेश किया है; क्षत्रिय एवं वैश्य ब्रह्मचारियों के लिए इस कर्म का इस प्रकार से विधान नहीं है ।

संस्कृत व्याख्या—मनीषिभिः—विद्वद्भिः, एतत् कर्म—देवदैवत्ये वा भोजनं; ब्राह्मणस्य—अग्रजन्मनः, एव, उपदिष्टं—विहितं, राजन्यवैश्ययोः—राजन्यश्च वैश्यश्च राजन्यवैश्यौ, तयोः, क्षत्रियवणिजोः; तु, एतत् कर्म—भोजनग्रहणरूपकार्यं, एवं, न, विधीयते—उपदिश्यते ।

विशेष—ब्राह्मण सदा से अति सम्मान के पात्र माने गए, उन्हें पृथ्वी का प्रत्यक्ष देवता कहा गया । व्रतों में, तपों में, यज्ञकर्मों में जो भी दोष हों वे सब ब्राह्मणों के सम्मान से, प्रतिदान में प्राप्त आशीर्वाद से नष्ट हो जाते हैं—

'व्रतश्छिद्रं तपश्छिद्रं यच्छिद्रं यज्ञकर्मणि ।
सर्वं भवति निश्छिद्रं ब्राह्मणैरुपवादितम् ॥'

—पराशर माधव, ६.५२

अतः ब्राह्मणों की सन्तुष्टि एवं प्रसन्नता आवश्यक मानकर केवल ब्राह्मणों के लिए कर्मान्त में सामर्थ्यानुसार एक या अधिक ब्राह्मण को भोजन के लिए आमन्त्रित करने का विधान धर्मशास्त्रों में है ।

अध्ययन एवं आचार्य हित में तत्परता—

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥१९१॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) गुरुणा चोदितः अप्रचोदितः एव वा अध्ययने, आचार्यस्य हितेषु च नित्यं यत्नं कुर्यात् ।

शब्दार्थ—चोदितः—प्रेरित, हितेषु—कल्याण कार्यों में ।

हिन्दी अर्थ—(ब्रह्मचारी) गुरु के प्रेरित करने पर अथवा प्रेरित न करने पर भी अध्ययन और आचार्य के लिए कल्याणकर कार्य में सर्वदा प्रयत्नशील रहे ।

संस्कृत व्याख्या—गुरुणा—आचार्येण, चोदितः—प्रेरितः, अप्रचोदितः—अप्रेरितः एव वा, स्वयमेव, अध्ययने—पठने, आचार्यस्य—शिक्षकस्य, हितेषु—कल्याणकार्येषु, च, नित्यं—निरन्तरं, यत्नं—उद्योगं, कुर्यात्—विदध्यात् ।

गुरु के प्रति श्रद्धा भाव—

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥१९२॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) शरीरं च वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च नियम्य एव प्राञ्जलिः गुरोः मुखं वीक्षमाणः तिष्ठेत् ।

शब्दार्थ—प्राञ्जलिः—हाथ जोड़कर, वीक्षमाणः—देखता हुआ ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी शरीर, वाणी, बुद्धि, इन्द्रिय तथा मन को वश में करके हाथ जोड़कर गुरु के मुख की ओर देखता हुआ खड़ा रहे।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, शरीरं—देहं, वाचं—वाणीं, बुद्धीन्द्रियमनांसि—बुद्धिश्च इन्द्रियाणि च मनश्च, तानि, नियम्य—संयम्य, एवा, प्राञ्जलिः—कृताञ्जलिः, गुरोः—आचार्यस्य, मुखं—आननं प्रति, वीक्षमाणः—अवलोकमानः, तिष्ठेत्—संस्थितो भवेत्, नोपविशेदित्यर्थः।

विशेष—शास्त्रों के अनुसार संयमन की प्रक्रिया में मन प्रधान है क्योंकि 'मनश्चञ्चलमस्थिरम्।' —श्रीमद्भगवद्गीता, ६.२६.

शिष्टाचार पालन—

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः ॥१९३॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) नित्यम् उद्धृतपाणिः साध्वाचारः सुसंयतः स्यात् (गुरुणा) आस्यताम् इति उक्तः सन् गुरोः अभिमुखम् आसीत।

शब्दार्थ—उद्धृतपाणिः—हाथ निकाले हुए, साध्वाचारः—शिष्टाचार, आस्यतां—बैठो।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी सर्वदा (उत्तरीयादि से बाहर) हाथ निकाले हुए, शिष्टाचार से युक्त और सम्यक् अनुशासित रहे, गुरु के द्वारा 'बैठो' कहने पर गुरु के सम्मुख बैठ जाए।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, नित्यं—सर्वदा, उद्धृतपाणिः—उद्धृतः पाणिः येन सः, निर्गतदक्षिणबाहुः; साध्वाचारः—साधुः आचारः यस्य सः, शोभनव्यवहारः; सुसंयतः—सम्यगनुशासितः वस्त्रावृतशरीरः वा, स्यात्—भवेत्, गुरुणा, आस्यतां—उपविश्यतां, इति उक्तः सन्—एवं आदिष्टः सन्, गुरोः—आचार्यस्य, अभिमुखं—मुखस्य संमुखं, आसीत—उपविशेत्।

गुरु की अपेक्षा स्तर निम्नता—

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥१९४॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) गुरुसन्निधौ सर्वदा हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्। अस्य प्रथमं उत्तिष्ठेत् च, चरमं च एव संविशेत्।

शब्दार्थ—गुरुसन्निधौ—गुरु के सामीप्य में, हीनान्नवस्त्रवेष—गुरु की अपेक्षा न्यून अन्न, वस्त्र और वेश वाला।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी गुरु के समीप सदैव (गुरु की अपेक्षा) अन्न, वस्त्र व वेश को हीन रखे, उनके पहले सोकर उठे, उनके सोने के बाद सोए।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, गुरुसन्निधौ—गुरोः सन्निधिः, तस्मिन्, गुरुसामीप्ये, सर्वदा—सदैव, तदपेक्षया, हीनान्नवस्त्रवेषः—हीनम् अन्नानि वस्त्राणि वेषाः यस्य सः, निकृष्टभोजनाच्छादनप्रसाधनः; स्यात्—भवेत्, अस्य—गुरोः, उत्थानात्, प्रथमं—रात्रिशेषे, उत्तिष्ठेत्—शय्यां त्यजेत्, च, चरमं—दिनान्ते, गुरौ सुप्ते इत्यर्थः, च एव संविशेत्—शयीत्।

आज्ञापालन का प्रकार—

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत्।
नासीनो च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥१६५॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) शयानः न, आसीनः न, भुञ्जानः न, तिष्ठन् न, पराङ्मुखः च न प्रतिश्रवणसम्भाषे समाचरेत्।

शब्दार्थ—पराङ्मुखः—विमुख होकर, प्रतिश्रवणसम्भाषे—आज्ञा स्वीकार करना तथा वार्तालाप करना।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी सोते हुए, आसन पर बैठे हुए, भोजन करते हुए, खड़े हुए अथवा मुख फेरे हुए गुरु की आज्ञा स्वीकार अथवा बातचीत न करें।

संस्कृत व्याख्या—शयानः—सुप्तः, न, आसीनः—आसनोपविष्टः न, भुञ्जानः—भोजनं चर्वणन्, न, तिष्ठन्—स्थितः, न, पराङ्मुखः—विमुखः, च, न, प्रतिश्रवणसम्भाषे—प्रतिश्रवणं च सम्भाषां च, गुर्वादेशाङ्गकिरणवार्तालापे, न, समाचरेत्—कुर्यात्।

आज्ञापालन का प्रकार—

आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥१६६॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) आसीनस्य स्थितः, तिष्ठतः तु अभिगच्छन्, आव्रजतः तु प्रत्युद्गम्य धावतः तु पश्चाद् धावन् (प्रतिश्रवणसम्भाषे) कुर्यात्।

शब्दार्थ—अभिगच्छन्—सम्मुख जाकर, आव्रजतः—आते हुए का, प्रत्युद्गम्य—स्वागत में स्वयं आगे बढ़ कर।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी आसन पर बैठे हुए गुरु के सम्मुख खड़े होकर, खड़े हुए गुरु के सम्मुख जाकर, आते हुए गुरु के स्वागत में आगे बढ़ कर और दौड़ते हुए गुरु के पीछे दौड़ कर आज्ञा का प्रतिश्रवण एवं सम्भाषण करे।

संस्कृत व्याख्या—आसीनस्य—आस्ते उपविष्टस्य, आज्ञां ददतः आचार्यस्य; स्थितः—तिष्ठन्, तिष्ठतः—दूरे स्थितस्य, आदिशतः गुरोः तु, अभिगच्छन्—संमुखं कतिचिद् पदानि व्रजन्, आव्रजतः—आगच्छतः, गुरोः तु, प्रत्युद्गम्य—स्वागताय अग्रे गत्वा, धावतः—त्वरितचलतः, आदिशतः गुरोः तु, पश्चात् धावन्—गुरोः अनुधावन्, प्रतिश्रवण—सम्भाषे, कुर्यात्—समाचरेत् ।

आज्ञापालन का प्रकार—

पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ।।१९७।।

अन्वय—(ब्रह्मचारी) पराङ्मुखस्य अभिमुखः, दूरस्थस्य च अन्तिकम् एत्य, शयानस्य निदेशे तु तिष्ठतः (गुरोः) प्रणम्य एव च (प्रतिश्रवणसम्भाषे) कुर्यात् ।

शब्दार्थ—अन्तिकम्—समीप, एत्य—जाकर, निदेशे—सन्निकट ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी आचार्य के पराङ्मुख (पीठ फेरे) रहने पर उनके सामने खड़े होकर, दूर होने पर समीप जाकर, सोए रहने पर अथवा निकट स्थित रहने पर (गुरु को) प्रणाम करके ही (उनकी आज्ञा का) प्रतिश्रवण एवं सम्भाषण करे ।

संस्कृत व्याख्या—पराङ्मुखस्य—पराक् मुखं यस्य स परावर्तितमुखस्य, आदिशतः गुरोः, अभिमुखः—समक्षं स्थितः, दूरस्थस्य—दूरे तिष्ठतीति दूरस्थः तस्य, दूरङ्गतस्य, च, अन्तिकं—समीपं, एत्य—गत्वा, शयानस्य—सुप्तस्य, निदेशे—सन्निकटे, तिष्ठतः—उपविष्टस्य, गुरोः, प्रणम्य—नमस्कारं कृत्वा, एव, च, प्रतिश्रवणसम्भाषे, कुर्यात् ।

विशेष—निदेशे—भाष्यकार ब्युहलर के अनुसार, 'निदेशे' शब्द का अर्थ है—नीचे स्थान पर—'in a lower place'.

आसन एवं आसीन होने की संयत मुद्रा—

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ।।१९८।।

अन्वय—गुरुसन्निधौ अस्य शय्यासनं च सर्वदा नीचं (भवेत्), गुरोः चक्षुर्विषये तु यथेष्टासनः न भवेत् ।

शब्दार्थ—नीचं—नीचा, चक्षुर्विषये—आँखों के सामने, यथेष्टासनः—पैर फैलाकर या आराम से ।

हिन्दी अर्थ—गुरु के सान्निध्य में ब्रह्मचारी का शय्या और आसन (गुरु की अपेक्षा) सर्वदा नीचा रहे, गुरु के नेत्रों के सम्मुख आसन पर अस्त-व्यस्त न बैठे ।

संस्कृत व्याख्या—गुरुसन्निधौ—गुरोः सन्निधिः तस्मिन् गुरुसमीपे, अस्य—ब्रह्मचारिणः, शय्यासनं—शय्या च आसनं च तयोः समाहारः, पर्यङ्कोपवेशनादिकं, सर्वदा—सदा, नीचं—अधोभागे, भवेत्—स्यात्, गुरोः—आचार्यस्य, चक्षुर्विषये—चक्षुषः विषयं, तस्मिन्, दृष्टिसम्मुखे; तु, यथेष्टासनः—यथेष्टम् आसनं यस्य सः, सुखासीनः न, भवेत्—स्यात् । न तत्र यथेष्टं चेष्टां चरणप्रसारादिकां कुर्यात् ।

विशेष—लगभग सभी धर्मसूत्र इस तथ्य से सहमत हैं कि शिष्य को आजीवन गुरु के साथ जाना चाहिए, गुरु को स्नान में सहायता देनी चाहिए, शरीर को दबाना चाहिए, उच्छिष्ट खाना चाहिए। गुरु को प्रसन्न करने वाले कार्य करना चाहिए, बुलाने पर पढ़ना चाहिए, पैरों को आगे निकाल कर सम्मुख नहीं बैठना चाहिए, जोर से गला नहीं स्वच्छ करना चाहिए। हँसना, जँभाई लेना, अंगुली चटखाना जैसे कार्य सम्मुख उचित नहीं है। आवाज देने पर तुरन्त उपस्थित होना चाहिए, गुरु से नीचे आसन पर बैठना चाहिए। गुरु के सोने के उपरान्त सोना और जगने के पहले जगना चाहिए। —गौतम धर्मसूत्र, २.२०-२१, ३०-३२

गुरु नामग्रहण व अनुकरण अनुचित—

नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ।।१९९।।

अन्वय—(ब्रह्मचारी) अस्य परोक्षम् अपि केवलं नाम न उदाहरेत् । अस्य गतिभाषितचेष्टितं न च एव अनुकुर्वीत ।

शब्दार्थ—परोक्षं—अनुपस्थिति में, गतिभाषितचेष्टितं—गमन, भाषण, चेष्टा, अनुकुर्वीत—नकल करे ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी आचार्य के परोक्ष में भी केवल नाम का उच्चारण न करे। उनके गमन, भाषण एवं चेष्टा आदि की (उपहास में) नकल न करे।

संस्कृत व्याख्या—अस्य—आचार्यस्य, परोक्षं—अप्रत्यक्षं, अपि, केवलं नाम—अभिधानमात्रं, आचार्यादिपूजावचनोपपदशून्यं नाम, न, उदाहरेत्—उच्चारयेत्, अस्य—गुरोः, गतिभाषितचेष्टितं—गतिश्च, भाषितं च चेष्टितं च, गमनभाषणक्रियादिरूपव्यापारं, न च एव, अनुकुर्वीत—उपहासार्थं अनुकरणं न कुर्यात् ।

विशेष—श्री, भट्ट या आचार्य की उपाधि लगाए बिना गुरु की अनुपस्थिति में उनका केवल नाम नहीं लेना चाहिए। न उनकी क्रियाओं की भद्दी नकल अथवा उपहास करना चाहिए।

—धर्मशास्त्र का इतिहास, काणे, पृष्ठ २३६

'परोक्षं सत्कृपापूर्वं प्रत्यक्षं न कथंचन।
दुष्टानुचारी च गुरोरिह वाऽमुत्र चेत्यधः ॥११॥'

परोक्ष में यदि गुरु का नामग्रहण आवश्यक हो तो सम्मानसूचक विशेषण आदि पद संयुक्त करना चाहिए, प्रत्यक्ष में कदापि नाम उच्चारण न करे। इसके विपरीत अशिष्टाचरण करने वाला इस लोक अथवा परलोक में दुर्गति को प्राप्त होता है।

गुरु निन्दा श्रवण निषेध—

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥२००॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) यत्र गुरोः परीवादः निन्दा अपि वा प्रवर्तते, तत्र कर्णौ पिधातव्यौ, ततः अन्यतः वा गन्तव्यम्।

शब्दार्थ—परीवादः—विद्यमान दोषों का कथन, निन्दा—अविद्यमान दोषों का कथन।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी, जहाँ गुरु का परीवाद (विद्यमान दोषों की चर्चा) अथवा निन्दा (अविद्यमान दोषों की चर्चा) की जा रही हो, वहाँ दोनों कान बन्द कर ले अथवा वहाँ से (हटकर) अन्यत्र चला जाय।

संस्कृत व्याख्या—यत्र—यस्मिन् स्थाने, गुरोः—आचार्यस्य, परीवादः—विद्यमानदोषस्याभिधानम्, मिथ्यादोषाक्षेपः; निन्दा—अविद्यमानदोषाभिधानम्, गुणेषुदोषदृष्टिः; अपि, वा, प्रवर्तते—क्रियते, तत्र—तस्मिन् स्थाने, स्थितेन शिष्येण, कर्णौ—श्रवणौ, पिधातव्यौ—अङ्गुल्यादिना तिरोधातव्यौ, ततः—तस्मात् देशात्, अन्यतः—देशान्तरं, वा, गन्तव्यं—अपसरणीयम्।

गुरु निन्दा का परिणाम—

परीवादात्खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी ॥२०१॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) परीवादात् खरः भवति, निन्दकः वै श्वा भवति परिभोक्ता कृमिः भवति, मत्सरी कीटः भवति।

शब्दार्थ—खरः—गदहा, श्वा—कुत्ता, कृमिः—सूक्ष्म कीड़ा, कीटः—स्थूल कीड़ा।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी गुरु के प्रति, दोषारोपण से गदहा होता है, निन्दा से कुत्ता होता है, (सम्पत्ति का) उपभोग करने से सूक्ष्म कीड़ा होता है, ईर्ष्या करने से स्थूल कीट होता है।

संस्कृत व्याख्या—परीवादात्—सत्य दोषारोपात्, खरः—गर्दभः भवति, निन्दकः—गुणेषु दोषाविष्कारकः, वै, श्वा—कुक्कुरः, भवति, परिभोक्ता—संमृद्ध्योपजीवी, कृमिः—सूक्ष्मकीटः भवति, मत्सरी—ईर्ष्याकरः, कीटः—स्थूलकीटः, भवति ।

विशेष—परीवादात्—शिष्य को गुरु के विरोधी वचन नहीं सुनने चाहिए, यदि वह यह कार्य करता है तो आगे के जन्मों में पशु एवं कीड़े-मकोड़े के रूप में जन्म लेगा ।

—विष्णुधर्मसूत्र, २८.२६

परिभोक्ता—यहाँ 'समृद्धि का उपभोग करने वाला' अर्थ न होकर गुरु निन्दा का प्रसंग होने से 'निन्दा रस का उपभोक्ता' अर्थ ग्रहण करना चाहिए ।

गुरु की अर्चन विधि—

दूरस्थो नार्चयेदेनं न क्रुद्धो नान्तिके स्त्रियाः ।
यानासनस्थश्चैवैनमवरुह्याभिवादयेत् ॥२०२॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) दूरस्थः, क्रुद्धः, न, स्त्रियाः अन्तिके वा एनं न अर्चयेत्, यानासनस्थः, एव च एनम् अवरुह्य अभिवादयेत् ।

शब्दार्थ—अन्तिके—समीप में, एनं—गुरु को, अवरुह्य—उतर कर ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी दूर रहकर, क्रुद्ध होकर अथवा स्त्री के समीप होने पर गुरु की पूजा न करे, वाहन और आसन पर बैठा हुआ शिष्य गुरु को उतर कर अभिवादन करे ।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, दूरस्थः—दूरे तिष्ठतीति, दूरदेशस्थितः; क्रुद्धः—कुपितः, स्त्रियाः—कामिन्याः, अन्तिके—समीपे, वा, एनं—आचार्यं, न, अर्चयेत्—पूजयेत्, यानासनस्थः—यानं च आसनं च, यानासने, तयोः तिष्ठतीति, वाहनारूढः आसनोपविष्टः; च एव, एनं—आचार्यं, अवरुह्य—अवतीर्य, अभिवादयेत्—प्रणामं कुर्यात् ।

गुरु के साथ बैठना निषिद्ध—

प्रतिवातेऽनुवाते च नासीत गुरुणा सह ।
असंश्रवे चैव गुरोर्न किञ्चिदपि कीर्तयेत् ॥२०३॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) प्रतिवाते अनुवाते च गुरुणा सह न आसीत । गुरोः असंश्रवे च एव किञ्चित् अपि न कीर्तयेत् ।

शब्दार्थ—प्रतिवाते—वायु की प्रतिकूल दिशा में, अनुवाते—वायु की अनुकूल दिशा में, असंश्रवे—न सुनाई पड़े ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी प्रतिकूल वात (अर्थात् गुरु की ओर से आने वाली वायु) तथा अनुकूल वात (अर्थात् शिष्य की ओर से आने वाली वायु) में गुरु के साथ न बैठे, गुरु को सुनाई न पड़े, इस प्रकार कुछ भी न कहे।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, प्रतिवाते, वातस्य प्रतिकूलं, तस्मिन्, प्रतिकूल-पवने, गुरुदेशात् शिष्यदेशमागते; अनुवाते—वातस्य पश्चात्, तस्मिन्, अनुकूल पवने, शिष्यदेशात् गुरुदेशमागते; च, गुरुणा—आचार्येण, सह—सार्क, न, आसीत—उपविशेत्, गुरोः—आचार्यस्य, असंश्रवे—अविद्यमानः संश्रवः यत्र, तस्मिन्, श्रवणायोग्यस्थाने; च एव, किञ्चित् अपि, न, कीर्तयेत्—कथयेत्।

विशेष—प्रतिवात—जब रथ गुरु के घर से शिष्य के घर की ओर जा रहा हो।

अनुवात—जब रथ शिष्य के घर से गुरु के घर की ओर जा रहा हो।
ऐसी स्थिति में शिष्य गुरु के साथ एकासन पर न बैठे अपितु तिर्यक्वात अथवा पीछे की ओर होकर बैठे।

असंश्रवे—न सुनाई पड़े, ऐसी धीमी आवाज में गुरु तथा किसी अन्य के विषय में भी वार्तालाप होना चाहिए।

गुरु के साथ बैठने योग्य स्थान—

गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च।
आसीत गुरुणा सार्धं शिलाफलकनौषु च ॥२०४॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु कटेषु च शिलाफलकनौषु च गुरुणा सार्धम् आसीत।

शब्दार्थ—उष्ट्र—ऊँट, प्रस्तरेषु—दरी आदि बिछौनों पर, कटेषु—चटाई पर, नौषु—नौकाओं पर।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, ऊँटगाड़ी, महलों की छतों पर, बिछौनों पर, चटाई पर, पत्थरों पर, काठ की चौकी पर और नाव में गुरु के साथ बैठ सकता है।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, गोऽश्वोष्ट्रयानप्रासादप्रस्तरेषु—गावश्च अश्वाश्चेति उष्ट्राश्च तेषां यानं, प्रासादाश्च प्रस्तराश्च तेषु, बलीवर्द याने च अश्वयाने च उष्ट्रयाने च प्रासादस्य उपरि च विष्टरेषु च, कटेषु—तृणनिर्मितासनेषु, च, शिलाफलकनौषु—शिला च फलकं च नौश्च तेषु, शिलायां पर्यङ्कायां तरण्यां, च, गुरुणा—स्वाचार्येण, सार्धं—सह, आसीत—उपविशेत्।

गुरु के समान सम्मान्य जन—

गुरोर्गुरौ सन्निहिते गुरुवद्वृत्तिमाचरेत् ।
न चानिसृष्टो गुरुणा स्वान्गुरूनभिवादयेत् ॥२०५॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) गुरोः गुरौ सन्निहिते गुरुवद् वृत्तिम् आचरेत् । गुरुणा अनिसृष्टः च स्वान् गुरून् न अभिवादयेत् ।

शब्दार्थ—सन्निहिते—समीप होने पर, अनिसृष्टः—आज्ञा के बिना ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी गुरु के गुरु के समुपस्थित होने पर उनके साथ गुरु के समान (सम्मानपूर्ण) आचरण करे, गुरु के निर्देश के बिना अपने गुरुजनों (माता पिता आदि) को अभिवादन न करे ।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, गुरोः—स्वाचार्यस्य, गुरौ—आचार्ये, सन्निहिते—समुपस्थिते, गुरुवत्—आचार्यतुल्यं, वृत्तिं—सम्मानपूर्णव्यवहारं, आचरेत्—कुर्यात्, गुरुणा—आचार्येण, अनिसृष्टः—अनिर्दिष्टः, च, स्वान्—निजान्, गुरून्—मातृपितृपितृव्यादीन्, न, अभिवादयेत्—प्रणमेत् ।

गुरु के समान सम्मान्य जन—

विद्यागुरुष्वेतदेव नित्या वृत्तिः स्वयोनिषु ।
प्रतिषेधत्सु चाधर्माद्धितं चोपदिशत्स्वपि ॥२०६॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) विद्यागुरुषु, स्वयोनिषु, अधर्मात् च प्रतिषेधत्सु, हितं च उपदिशत्सु अपि एतत् एव नित्या वृत्तिः (वर्तितव्या) ।

शब्दार्थ—स्वयोनिषु—स्वबन्धुओं में, प्रतिषेधत्सु—निषेध करने वालों में, उपदिशत्सु—उपदेश देने वालों में ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी विद्या दान देने वाले उपाध्यायादि गुरुओं के प्रति, चाचा, मामा आदि स्वकुल बन्धुओं के प्रति, अधर्म का निषेध करने वालों के प्रति तथा कल्याण का उपदेश करने वालों के प्रति भी ऐसा ही (गुरुवत्) व्यवहार सर्वदा करे ।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, विद्यागुरुषु—विद्यायाः गुरवः तेषु, शिक्षादातृषु उपाध्यायेषु, स्वयोनिषु—पितृव्यादिषु स्ववंशीयेषु, अधर्मान्—पापकृत्याचारान्, च, प्रतिषेधत्सु—निवारकेषु, हितं—कल्याणकरं, उपदिशत्सु—उपदेशकेषु, अपि, एतत् एव—पूर्वोक्तेव आचार्यवत्, नित्यावृत्तिः—शाश्वद्व्यवहारः, वर्तितव्या ।

विशेष—'आकेशग्रहणान्मित्रमकार्येभ्यो निवर्तयेद'—मित्र को केश से पकड़ कर बुरे कार्यों से हटाना चाहिए ।

गुरु के समान सम्मान्यजन—

श्रेयस्सु गुरुवद्वृत्तिं नित्यमेव समाचरेत् ।
गुरुपुत्रेषु चार्येषु गुरोश्चैव स्वबन्धुषु ॥२०७॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) श्रेयःसु, आर्येषु गुरुपुत्रेषु च, गुरोः स्वबन्धुषु एव च गुरुवत् नित्यम् एव वृत्तिम् समाचरेत् ।

शब्दार्थ—श्रेयःसु—उत्कृष्ट जनों में, आर्येषु गुरुपुत्रेषु—सजातीयगुरुपुत्रों में ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी श्रेष्ठजनों में, शिष्टगुरुपुत्रों में और गुरु के आत्मीय जनों में गुरु के समान ही सदा व्यवहार करे ।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, श्रेयःसु—विद्यातपःसमृद्धेषु, आर्येषु—इति गुरुपुत्रविशेषणं, समानजातिषु; गुरुपुत्रेषु—गुरोः पुत्राः तेषु, आचार्यापत्येषु, गुरोः—आचार्यस्य, स्वबन्धुषु—निजपरिवारजनेषु, च, गुरुवत्—आचार्यसदृशं, नित्यं वृत्ति—शाश्वद्व्यवहारं, समाचरेत्—कुर्यात् ।

विशेष—आर्येषु गुरुपुत्रेषु—भाष्यकार ब्यूहलर के अनुसार आचार्य की सवर्णा पत्नी अर्थात् ब्राह्मणी मात्र से उत्पन्न पुत्र—'towards sons of his teacher, born by wives of equal caste'. यहाँ गुरुपुत्र शिष्य से अधिक आयु वाला अपेक्षित है ।

गुरु के समान सम्मान्य जन—

बालः समानजन्मा वा शिष्यो वा यज्ञकर्मणि ।
अध्यापयन्गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति ॥२०८॥

अन्वय—बालः समानजन्मा वा, शिष्यः गुरुसुतः अध्यापयन् वा यज्ञकर्मणि गुरुवत् मानम् अर्हति ।

शब्दार्थ—समानजन्मा—समवयस्क, अध्यापयन्—शिक्षण कार्य करता हुआ ।

हिन्दी अर्थ—"गुरुपुत्र अल्पवयस्क हो अथवा समवयस्क, शिष्य हो अथवा अध्यापन करता हो अथवा यज्ञकर्म में प्रवृत्त हो, गुरु के समान सम्मान के योग्य है ।

संस्कृत व्याख्या—बालः—अल्पायुः, समानजन्मा—समानं जन्म यस्य सः, समवयस्कः, वा, शिष्यः—स्वछात्रः, वा, गुरुसुतः—गुरोः सुतः, गुरुपुत्रः, अध्यापयन्—शिक्षयन्, यज्ञकर्मणि—यागानुष्ठाने, ऋत्विग् अनृत्विग् वा, गुरुवत्—आचार्यसमं, मानं—आदरं, अर्हति—योग्यः अस्ति ।

विशेष—गुरु की अनुपस्थिति में अध्यापन कार्य करने वाला गुरुपुत्र सम्मान का अधिकारी है।

गुरुपुत्र शुश्रूषा का निषेध—

उत्सादनं च गात्राणां स्नापनोच्छिष्टभोजने।
न कुर्याद्गुरुपुत्रस्य पादयोश्चावनेजनम् ॥२०९॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) गुरुपुत्रस्य गात्राणां उत्सादनम् स्नापनोच्छिष्टभोजने च पादयोः अवनेजनं च न कुर्यात्।

शब्दार्थ—गात्राणां—शारीरिक अंगों का, उत्सादनं—उबटन मलना, स्नापन—स्नान, अवनेजनं—धोना।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी, गुरुपुत्र के अंगों में तैल उबटन आदि मर्दन, स्नान कराना, उच्छिष्ट भोजन एवं पादप्रक्षालन—इन कर्मों को न करे।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, गुरुपुत्रस्य—गुरोः पुत्रः तस्य, गुरोरात्मजस्य; गात्राणां—शरीराङ्गानां, उत्सादनं—तैलोद्वर्तनादिमर्दनं, स्नापनोच्छिष्टभोजने—स्नापनं च उच्छिष्टं भोजनं च, ते, जलस्नानोच्छिष्टभक्षणे; च; पादयोः—चरणयोः, अवनेजनं—प्रक्षालनं, च, न, कुर्यात्—सम्पादयेत्।

विशेष—गुरुपुत्र के साथ गुरु के समान व्यवहार ही करना चाहिए किन्तु गुरुपुत्र के पैर छूना तथा उच्छिष्ट भोजन नहीं करना चाहिए।

—विष्णुधर्मसूत्र, २८-३१

गुरु-पत्नियों के साथ व्यवहार—

गुरुवत्प्रतिपूज्याः स्युः सवर्णा गुरुयोषितः।
असवर्णास्तु सम्पूज्याः प्रत्युत्थानाभिवादनैः ॥२१०॥

अन्वय—सवर्णाः गुरुयोषितः गुरुवत् प्रतिपूज्याः स्युः, असवर्णास्तु प्रत्युत्थानाभिवादनैः सम्पूज्याः।

शब्दार्थ—योषितः—पत्नियाँ, प्रतिपूज्याः—अर्चनीय, प्रत्युत्थानं—आगे बढ़कर स्वागत करना।

हिन्दी अर्थ—गुरु की सवर्ण पत्नियाँ गुरु के समान पूज्य हैं और असवर्ण पत्नियाँ प्रत्युत्थान तथा प्रणाम मात्र से ही पूज्य हैं।

संस्कृत व्याख्या—सवर्णाः—समानः वर्णः यासां ताः, समानजातीयाः, गुरुयोषितः—गुरोः योषितः, गुरुपत्न्यः; गुरुवत्—आचार्य इव, प्रतिपूज्याः—आज्ञापालनादिना अर्चनीयाः, स्युः—भवेयुः, असवर्णाः—असमानजातीयाः, तु,

प्रत्युत्थाभिवादनैः—प्रत्युत्थानं च अभिवादनं कृतः, सत्कारभाजः; सम्पूज्याः—समादरणीयाः ।

विशेष—आपस्तम्ब धर्मसूत्र, १.२.७.२७—भी समान नियम प्रस्तुत करता है ।

गुरुपत्नी की शुश्रूषा का निषेध—

अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनमेव च ।
गुरुपत्न्या न कार्याणि केशानां च प्रसाधनम् ॥२११॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) गुरुपत्न्याः अभ्यञ्जनं स्नापनं च गात्रोत्सादनम् एव च केशानां प्रसाधनं च न कार्याणि ।

शब्दार्थ—अभ्यञ्जनं—तैलमर्दन, प्रसाधनं—अलङ्करण ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी गुरुपत्नी के तैलमर्दन, स्नान कराना, अंगों में तैलादि मर्दन, अंगों में उबटन लगाना और केशों की सज्जा—इन कार्यों को न करे ।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, गुरुपत्न्याः—गुरोः पत्नी तस्याः, गुरुपरिणीतायाः; अभ्यञ्जनं—तैलादिना लेपनं, स्नापनं—स्नानक्रियायां सहयोगप्रदानं, च, गात्रोत्सादनं—गात्राणाम् उत्सादनं, देहाङ्गोद्वर्तनं, एव च, केशानां—कुन्तलानां, प्रसाधनं—विन्यासं, च न, कार्याणि—करणीयानि ।

विशेष—शिष्य को गुरुपत्नी के स्नान आदि में सहायता एवं केशों में कंघी करना, फूल लगाना, शरीर में चन्दनानुलेपन इत्यादि कार्य नहीं करना चाहिए ।

—गौतम स्मृति, २.३१

गुरुपत्नी के चरण-स्पर्श का निषेध—

गुरुपत्नी तु युवतिर्नाभिवाद्येह पादयोः ।
पूर्णविंशतिवर्षेण गुणदोषौ विजानता ॥२१२॥

अन्वय—गुणदोषौ विजानता पूर्णविंशतिवर्षेण (ब्रह्मचारिणा) युवतिः गुरुपत्नी तु इह पादयोः न अभिवाद्या ।

शब्दार्थ—विजानता—विशेष रूप से जानने वाले, पूर्णविंशतिवर्षेण—बीस वर्षीय वयस्क ।

हिन्दी अर्थ—(स्त्रियों के) गुणदोष का विशेष ज्ञाता बीसवर्षीय वयस्क ब्रह्मचारी गुरु की युवा पत्नी के चरण-स्पर्श कर अभिवादन न करे ।

संस्कृत व्याख्या—गुणदोषौ—गुणः च दोषः च तौ, स्त्रीषु धैर्यचाञ्चल्यौ, विजानता—विशिष्टज्ञानवता, पूर्णविंशतिवर्षेण—पूर्णाः विंशतिवर्षाः तेन, सम्पूर्णवयस्केन, ब्रह्मचारिणा; युवतिः—तरुणी, गुरुपत्नी—गुरुविवाहिता स्त्री, तु, इह—जगति, पादयोः—चरणयोः संस्पर्शेण, न, अभिवाद्या—वन्दनीया ।

विशेष—पूर्णवयस्कविंशति—यह काल यौवनागम का सूचक है। शिष्य को चाहिए कि गुरुपत्नी को केवल मस्तक झुका कर अभिवादन करे, उसके पाँव छूना और चरण संवाहन निषिद्ध है। —बौधायन धर्मसूत्र, १.२.३७

स्त्री का सम्मोहक स्वभाव—

स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम् ।
अतोऽर्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः ॥२१३॥

अन्वय—इह नराणां दूषणं एषः नारीणां स्वभावः, अतः अर्थात् विपश्चितः प्रमदासु न प्रमाद्यन्ति ।

शब्दार्थ—अर्थात्—इसी कारण, विपश्चितः—मेधावी जन ।

हिन्दी अर्थ—इस संसार में (शृङ्गारादि चेष्टाओं के द्वारा आकृष्ट कर) पुरुषों को दूषित करना स्त्रियों का स्वभाव है अतः विद्वान् पुरुष (प्रकृष्ट मद वाली) स्त्रियों के विषय में असावधानी नहीं करते हैं।

संस्कृत व्याख्या—इह—अस्मिन् लोके, नराणां—पुरुषाणां, दूषणं—हावभाव-कटाक्षविभ्रमशृङ्गारचेष्टाभिः आकृष्य वशीकरणं, नारीणां—रमणीनां, एषः—निकृष्टः, स्वभावः—प्रकृतिः, अतः अर्थात्—अस्मात् कारणात्, विपश्चितः—पण्डिताः, प्रमदासु—प्रकृष्टयौवनमदमत्तासु कामिनीषु, न प्रमाद्यन्ति—अनवहिताः भवन्ति ।

विशेष—नारीणां स्वभावः—'दूषणम्' शब्द 'गुण' मात्र का बोधक है यथा—अग्नि का स्वभाव है दाहकता, यह दाहकता गुण केवल अग्नि की निन्दा नहीं है केवल उसका स्वभाव अर्थात् गुण है। इसी प्रकार मनुष्य को दूषित करना स्त्री का स्वभाव है कह कर नारी की निन्दा नहीं की गई है केवल शृङ्गार चेष्टाओं तथा सम्मोहक स्वभाव से संकेत किया गया है।

प्रमदासु—प्रकृष्टो मदो यस्याः । यः प्रमादे पातयतीति ।

स्त्री का सम्मोहक स्वभाव—

अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः ।
प्रमदा ह्युत्पथं नेतुं कामक्रोधवशानुगम् ॥२१४॥

अन्वय—हि लोके प्रमदाः कामक्रोधवशानुगम् अविद्वांसं पुनः विद्वांसम् अपि वा उत्पथं नेतुम् अलम् ।

शब्दार्थ—अनुगं—पीछे जाने वाले को, अविद्वांसं—मूर्ख को, उत्पथं—अनुचित मार्ग ।

हिन्दी अर्थ—क्योंकि संसार में (देह के स्वभाव से) स्त्रियाँ काम तथा क्रोध के वशीभूत होकर उनका अनुकरण करने वाले अविद्वान् को अथवा विद्वान् को भी कुमार्ग पर ले जाने में समर्थ होती हैं।

संस्कृत व्याख्या—हि—यतः, प्रमदाः—प्रकृष्टयौवनमदयुक्ताः, स्त्रियः, कामक्रोधवशानुगं—कामः च क्रोधः च ताभ्यां वशमनुगच्छतीति कामक्रोधवशवर्तिनम् अनुगामिनं, अविद्वांसं—न विद्वांसं, वैदुष्यरहितं मूर्खपुरुषं, पुनः, विद्वांसं—विद्याबुद्धिसमन्वितं, अपि वा, उत्पथं—अपमार्गं, नेतुं—प्रापयितुं, अलं—समर्थाः ।

विशेष—'स्त्रीणामष्टगुणः कामः ।' —बृहत्पराशर, पृष्ठ १२१

स्त्रियों की काम शक्ति पुरुष की कामशक्ति की आठ गुनी होती है अतः वे विज्ञ अथवा अविज्ञ पुरुष को सरलता से पथभ्रष्ट करती हैं ।

—महाभारत, अनुशासन पर्व, ३८.६

माता आदि के साथ एकान्तवास का निषेध—

माता स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥२१५॥

अन्वय—(पुरुषः) मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा विविक्तासनः न भवेत्, बलवान् इन्द्रियग्रामः विद्वांसम् अपि कर्षति ।

शब्दार्थ—दुहित्रा—पुत्री, विविक्तासनः—एकान्त में आसन वाला, कर्षति—खींच लेता है ।

हिन्दी अर्थ—पुरुष माँ, बहिन तथा पुत्री के साथ एकान्त में एक आसन पर न बैठे क्योंकि सबल इन्द्रिय समूह विद्वान् पुरुष को भी वश में कर लेता है ।

संस्कृत व्याख्या—पुरुषः, मात्रा—जनन्या, स्वस्रा—भगिन्या, दुहित्रा—कन्यया, वा, विविक्तासनः—विविक्ते आसनः, जनशून्यस्थाने एकासनस्थः, न, भवेत्—उपविशेत्, बलवान्—सबलः, इन्द्रियग्रामः—इन्द्रियाणां ग्रामः, इन्द्रियसमूहः; विद्वांसं—शास्त्रज्ञातारं, अपि, कर्षति—स्वाधीनं करोति ।

विशेष—वस्तुतः मनु का उद्देश्य पुरुष मन की दुर्बलता प्रदर्शन है । वराहमिहिर ने पुरुषों की भर्त्सना करते हुए कहा है कि सच बताओ, स्त्रियों में कौन से दोष हैं जो तुम लोगों में नहीं पाये जाते ? पुरुष व्यर्थ ही स्त्रियों की धृष्टतापूर्वक निन्दा करते हैं, वे तो अधिक गुण सम्पन्न होती हैं ।

'प्रब्रूत सत्यं कतरोऽङ्गनानां दोषस्तु यो नाचरितो मनुष्यैः ।
धार्ष्ट्येन पुंभिः प्रमदा निरस्ता गुणाधिकास्ता ॥'

—बृहत्संहिता, ७४.६

गुरुपत्नियों के प्रति प्रणाम विधि—

कामं तु गुरुपत्नीनां युवतीनां युवा भुवि ।
विधिवद्वन्दनं कुर्यादसावहमिति ब्रुवन् ॥२१६॥

अन्वय—युवा (ब्रह्मचारी) युवतीनां गुरुपत्नीनां तु विधिवत् 'असौ अहम्' इति ब्रुवन् कामं भुवि वन्दनं कुर्यात् ।

शब्दार्थ—ब्रुवन्—कहते हुए, भुवि वन्दनं—पृथ्वी पर झुक कर प्रणाम ।

हिन्दी अर्थ—युवा (ब्रह्मचारी) युवती गुरुपत्नी को शास्त्र की विधि अनुसार 'अमुक नाम वाला मैं अभिवादन करता हूँ', इस प्रकार कहते हुए यथेष्ट मात्रा में पृथ्वी पर झुक कर (चरण-स्पर्श न करते हुए) प्रणाम करे ।

संस्कृत व्याख्या—युवा—तरुणशिष्यः, युवतीनां—तरुणीनां, गुरुपत्नीनां—गुरोः पत्न्यः तासां, गुरुपरिणीताङ्गनानां; तु, विधिवत्—यथा शास्त्रं, असौ अहम्—'अभिवादयेऽमुकनामाहं भोः !' इति, ब्रुवन्—उच्चारयन्, कामं—यथेष्टं, भुवि—पृथिव्यां, वन्दनं—प्रणामं, न तु चरणस्पर्शं, कुर्यात्—समाचरेत् ।

विशेष—विधिवत्—व्यत्यस्तपाणिना—मनुस्मृति, २.१७२—बाएँ हाथ से बायाँ चरण, दाहिने हाथ से दाहिना चरण-स्पर्श करे ।

गुरुपत्नियों के प्रति प्रणाम विधि—

विप्रोष्य पादग्रहणमन्वहं चाभिवादनम् ।
गुरुदारेषु कुर्वीत सतां धर्ममनुस्मरन् ॥२१७॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) सतां धर्मम् अनुस्मरन् विप्रोष्य गुरुदारेषु पादग्रहणं अन्वहं च अभिवादनं कुर्वीत ।

शब्दार्थ—अनुस्मरन्—स्मरण रखता हुआ, विप्रोष्य—प्रवास से लौटने पर, अन्वहं—प्रतिदिन ।

हिन्दी अर्थ—(ब्रह्मचारी) सत्पुरुषों के आचरण को स्मरण करता हुआ, प्रवास से लौटकर गुरुपत्नियों के चरण-स्पर्श करे, प्रतिदिन केवल प्रणाम करे ।

संस्कृत व्याख्या—ब्रह्मचारी, सतां—साधुपुरुषाणां, धर्मं—आचारं, अनुस्मरन्—संस्मरन्, विप्रोष्य—प्रवासादागत्य, गुरुदारेषु—गुरूणां दाराः तेषु, पादग्रहणं—पादयोः ग्रहणं, चरणस्पर्शं, अन्वहं—प्रतिदिनं, च, अभिवादनं—भूमौ प्रणमनं, कुर्वीत—आचरेत् ।

गुरु सेवा से लाभ—

यथा खनन्खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥२१८॥

अन्वय—यथा नरः खनित्रेण खनन् वारि अधिगच्छति तथा शुश्रूषुः गुरुगतां विद्याम् अधिगच्छति ।

शब्दार्थ—खनित्रेण—कुदाल से, खनन्—खोदता हुआ, गुरुगतां—गुरु में निहित।

हिन्दी अर्थ—जिस प्रकार मानव कुदाल से पृथ्वी को खोदता हुआ (परिश्रमपूर्वक) जल को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार गुरु सेवा में संलग्न शिष्य गुरु में निहित ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

संस्कृत व्याख्या—यथा—येन प्रकारेण, नरः—श्रमशीलपुरुषः, खनित्रेण—खननोपकरणेन, खनन्—भूमिं विदारयन्, वारि—जलं, अधिगच्छति—प्राप्नोति, तथा, शुश्रूषुः—गुरुसेवापरः, गुरुगतां—गुरुं गताः वा गुरौ स्थितां, विद्यां—शास्त्रज्ञानं, अधिगच्छति—प्राप्नोति।

विशेष—ज्ञानदान की प्रक्रिया में गुरु और शिष्य दोनों का परस्पर सौमनस्य अनिवार्य है अन्यथा लक्ष्य मृगतृष्णा बन जाएगा। कहा गया है—

'आचार्यः पूर्वरूपम् अन्तेवास्युत्तररूपम्।
विद्या सन्धिः प्रवचनं सन्धानम्।'

—तैत्तिरीयारण्यक, १.३.३

ग्रामवास निषेध का काल निर्णय—

मुण्डो वा जटिलो वा स्यादथवा स्याच्छिखाजटः।
नैनं ग्रामेऽभिनिम्लोचेत्सूर्यो नाभ्युदियात्क्वचित् ॥२१९॥

अन्वय—मुण्डः वा जटिलः वा स्यात् अथवा शिखाजटः वा स्यात्, एनं सूर्यः ग्रामे न अभिनिम्लोचेत् क्वचित् न अभ्युदियात्।

शब्दार्थ—मुण्डः—मुण्डित शिर वाला, जटिलः—जटाधारी, शिखाजटः—मात्र शिखा रूप जटा वाला।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी मुण्डितमस्तक हो अथवा जटाधारी हो अथवा केवल शिखामात्र जटा वाला हो, उसे ग्राम में सूर्योदय और सूर्यास्त कभी नहीं होने चाहिए अर्थात् सूर्योदय के पूर्व और सूर्यास्त के पश्चात् ग्राम (अथवा नगर) में न रुके।

संस्कृत व्याख्या—मुण्डः—कृतक्षौरकर्मः, वा, जटिलः—केशैः जटावान्, वा, स्यात्—भवेत्, अथवा, शिखाजटः—शिखा एव जटा यस्य सः, शिखामात्रजटायुक्तः, वा, स्यात्, एनं—ब्रह्मचारिणं, सूर्यः—रविः, ग्रामे—जनाकीर्णस्थाने, न, अभिनिम्लोचेत्—अस्तं प्राप्नुयात्, क्वचित्—कुत्रचित्, न, अभ्युदियात्—उदयं प्राप्नुयात्, सूर्योदयात् प्राक् सूर्यास्तस्यानन्तरं च ग्रामे न तिष्ठेत् इति तात्पर्यम्।

विशेष—ब्रह्मचारी उपर्युक्त तीनों प्रकार के केशविन्यासों में से कोई भी चुनने के लिए स्वतन्त्र था।

नियम भङ्ग का प्रायश्चित्त—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामचारतः।
निम्लोचेद्वाप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥२२०॥

अन्वय—कामचारतः शयानं तं सूर्यः अभ्युदियात् अपि वा अविज्ञानात् (सूर्यः) निम्लोचेत् चेत् जपन् तद् दिनम् उपवसेत्।

शब्दार्थ—कामचारतः—स्वेच्छा से, अभ्युदियात—सूर्य उदय हो जाए, निम्लोचेत्—अस्त हो जाए।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी के जानबूझ कर सोते रहने पर उसे सूर्योदय हो जाए अथवा अज्ञानतावश (सोते रहने पर) सूर्यास्त हो जाए तो जप करते हुए उस दिन उपवास करे अर्थात् रात्रि में भोजन करे।

संस्कृत व्याख्या—कामचारतः—स्वेच्छया न तु रोगेण, शयानं—निद्राणं, तं—ब्रह्मचारिणं, सूर्यः—दिनकरः, अभ्युदियात्—उदयं प्राप्नुयात्, अपि वा, अविज्ञानात्—निद्रावशात्, सूर्यः, निम्लोचेत्—अस्तम् इयात्, चेत—तर्हि, जपन्—प्रायश्चित्तरूपे गायत्रीमन्त्रावृत्तिं कुर्वन्, तद् दिनम्—तस्मिन् दिने, उपवसेत्—आहारलङ्घनं कुर्यात्। रात्रावेव भुञ्जीत इति।

विशेष—ब्रह्मचारी यदि सूर्योदय के बाद जागता है तो उसे दिन भर जप एवं उपवास करना चाहिए तथा रात्रि में भोजन करना चाहिए। किन्तु यदि वह सूर्यास्त के बाद जागता है तो उसे रात्रि में जप एवं उपवास करना चाहिए तथा प्रातः में भोजन करना चाहिए—'सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेदहरभुञ्जानोऽभ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन्सावित्रीम्।' —गौतम धर्मसूत्र, २३.२१

प्रायश्चित्त के अभाव में दोष—

सूर्येण ह्यभिनिम्लुक्तः शयानोऽभ्युदितश्च यः।
प्रायश्चित्तमकुर्वाणो युक्तः स्यान्महतैनसा ॥२२१॥

अन्वय—हि यः शयानः सूर्येण अभिनिर्मुक्तः अभ्युदितः च (सः) प्रायश्चित्तम् अकुर्वाणः महता एनसा युक्तः स्यात्।

शब्दार्थ—अभिनिर्मुक्तः—छोड़ा गया, महता—बहुत बड़े, एनसा—पाप से।

हिन्दी अर्थ—जिस ब्रह्मचारी के सोते रहने पर सूर्यास्त हो जाए अथवा सूर्योदय हो जाए वह यदि प्रायश्चित्त का अनुष्ठान नहीं करता तो बहुत बड़े पापकर्म से युक्त होता है।

संस्कृत व्याख्या—हि—यतः, यः—ब्रह्मचारी, शयानः—निद्राणः, सूर्येण—दिनकरेण, अभिनिर्मुक्तः अभिनिम्लुक्तः, अभ्युदितश्च—उदयं प्राप्तः, सः—शिष्यः,

प्रायश्चित्तं—प्रायस्य पापस्य चित्तं विशोधनं यस्मात्, पापापनोदं; अकुर्वाणः अविदधत्, महता—गुरुणा, एनसा—पापेन, युक्तः स्यात्—संयुज्येत् ।

सन्ध्योपासना का विधिपूर्वक अनुष्ठान—

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधिः ॥२२२॥

अन्वय—(ब्रह्मचारी) आचम्य प्रयतः नित्यं समाहितः शुचौ देशे जप्यं जपन् उभे सन्ध्ये यथाविधि उपासीत ।

शब्दार्थ—शुचौ देशे—पवित्र स्थान पर, जप्यं—जपनीय मंत्र को ।

हिन्दी अर्थ—ब्रह्मचारी जल से आचमन कर नियमपूर्वक प्रतिदिन एकाग्र-चित्त से पवित्र स्थान में (प्रणवसहित सावित्री) मन्त्र को जपता हुआ दोनों सन्ध्याकालों में शास्त्रादेशानुसार उपासना करे ।

संस्कृत व्याख्या—आचम्य—जलेन उपस्पृश्य, प्रयतः—नियम-पालने संलग्नः, नित्यं—प्रत्यहं, समाहितः—दत्तावधानाः, शुचौ—पवित्रे, देशे—स्थाने, जप्यं—सप्रणवगायत्रीमन्त्रं, जपन्—अभ्यसन्, उभे—सन्ध्ये, सायम्प्रातस्सन्ध्यवेले, यथाविधि—शास्त्रनिर्दिष्टविधिना, उपासीत—पूजां कुर्यात् ।

श्रेष्ठ आचरण अनुकरणीय—

यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयः किञ्चित्समाचरेत् ।
तत्सर्वमाचरेद्युक्तो यत्र चास्य रमेन्मनः ॥२२३॥

अन्वय—यदि स्त्री यदि अवरजः किञ्चित् श्रेयः समाचरेत्, यत्र च अस्य मनः रमेत्, तत् सर्वं युक्तः आचरेत् ।

शब्दार्थ—अवरजः—शूद्र, युक्तः—दत्तचित्त हो कर ।

हिन्दी अर्थ—यदि (आचार्याणी) स्त्री अथवा (आचार्य भृत्य) शूद्रादि किसी कल्याण कार्य को करते हों तो उसे अथवा (शास्त्रनिर्दिष्ट कर्मों में) जो उसे रुचिकर प्रतीत हो वह सब सावधान हो कर करे ।

संस्कृत व्याख्या—यदि—चेत्, स्त्री—आचार्याणी, अवरजः—आचार्य-शूद्रानुचरः, वा, किञ्चित्—किमपि, श्रेयः—कल्याणप्रदं, समाचरेत्—व्यवहरेत्, यत्र—यस्मिन् शास्त्रोक्त कार्ये, वा, अस्य माणवकस्य, मनः—चित्तं, रमेत्—प्रसादमनुभवेत्, तत्, सर्वं—निखिलं, युक्तः—अवहितः, आचरेत्—अनुतिष्ठेत् ।

विशेष—'गुणाः पूजास्थानं' गुण पूज्य होते हैं अतः प्राणी स्त्री हो अथवा शूद्र, यदि श्रेष्ठ कार्य करता है तो उसका अनुकरण उचित है ।

धर्म-अर्थ-काम का स्वरूप—

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥२२४॥

अन्वय—इह धर्मार्थौ श्रेयः उच्यते, कामार्थौ (श्रेयः उच्यते), धर्म एव च (श्रेयः उच्यते), अर्थ एव वा श्रेयः (उच्यते), त्रिवर्गः श्रेयः इति तु स्थितिः ।

शब्दार्थ—त्रिवर्गः—धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ, स्थिति—सिद्धान्त ।

हिन्दी अर्थ—इस संसार में कोई आचार्य धर्म और अर्थ को, कोई काम और अर्थ को, कोई धर्म को और कोई अर्थ को ही श्रेयस्कर मानते हैं किन्तु सम्पूर्ण त्रिवर्ग—धर्म—अर्थ—काम श्रेयस्कर है, यह (हमारे मत में) निश्चित तथ्य है ।

संस्कृत व्याख्या—इह—जगति, केचिदाचार्यः, धर्मार्थौ—धर्मश्च अर्थश्च धर्मार्थौ, कामसाधनत्वात्, श्रेयः—हितकरः, उच्यते—मन्यते, कैश्चिद् आचार्यैः, कामार्थौ—कामश्च अर्थश्च कामार्थौ, सुखसाधनत्वात् श्रेयस्त्वेन कथ्यते, अपरैः, धर्म एव च, कामार्थसाधनत्वात् सौख्यकरत्वेन प्रस्तूयते, अन्यैः, अर्थ एव वा, धर्मकामयोः साधनत्वात् शुभंकरत्वेन उच्यते, मनुमते तु, त्रिवर्गः—धर्मार्थकामाः, पुरुषार्थसाधनत्वात् परस्परसहायकाः भूत्वा, श्रेयः—कल्याणकरः अस्ति, इति तु वास्तविकी, स्थितिः—सिद्धान्तः ।

विशेष—त्रिवर्ग—धर्म-अर्थ-काम परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं । धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और काम से पुनः धर्म के फल का उदय होता है, शास्त्रों में बुद्धिमान् पुरुषों ने यही निर्णय किया है—

'धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामाद्धर्मफलोदयः ।
इत्येवं निर्णयं शास्त्रे प्रवदन्ति विपश्चितः ॥' —पद्मपुराण

ज्येष्ठ वर्ग सदा अभिनन्दनीय—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥२२५॥

अन्वय—आर्त्तेन अपि आचार्यः पिता च एव माता (च) पूर्वजः भ्राता च न अवमन्तव्याः, ब्राह्मणेन तु विशेषतः न (अवमन्तव्याः) ।

शब्दार्थ—आर्त्तेन—दुःखी ब्रह्मचारी के द्वारा, अवमन्तव्याः—अपमानित किए जाने चाहिए ।

हिन्दी अर्थ—(गुरु ताडन से) दुःखी होकर भी आचार्य, पिता, माता एवं अग्रज सहोदर भ्राता का अपमान अथवा अवहेलना नहीं करना चाहिए, विशेष रूप से ब्राह्मण तो कदापि न करे ।

संस्कृत व्याख्या—आर्तेन—दुःखापनेन्न शिक्षेण, अपि, आचार्यः—गुरुः, पिता—जनकः, माता—जन्मदात्री, च, पूर्वजः—पूर्वं जातः, अग्रजः, भ्राता—सहोदरः, च न, अवमन्तव्याः—अवमाननीयाः, ब्राह्मणेन—उत्कृष्टवर्णेन, तु, विशेषतः—विशेषरूपेण, न अवमन्तव्याः।

विशेष—आर्तेन—आचार्य आदि के द्वारा दिए गए दण्ड आदि से पीडानुभव के पश्चात् भी, प्रतिकार की भावना न रखे। यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि'

—तैत्तिरीय उपनिषद्, १.११.२।

ब्राह्मण अपने आचरण से संसार में जो प्रतिमान स्थापित करता है, संसार उसका अनुकरण करता है अतः उससे सदैव श्रेष्ठता की अपेक्षा की जाती है।

यान्यनवद्यानि कर्माणि, तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि।
यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।।

—तैत्तिरीय उपनिषद्, १.११.२

आचार्यादि का देवत्व—

आचार्यो ब्रह्मणोमूर्तिः, पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु, भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः।।२२६।।

अन्वय—आचार्यः ब्रह्मणः मूर्तिः, पिता प्रजापतेः मूर्तिः, माता तु पृथिव्याः मूर्तिः, स्वः भ्राता आत्मनः मूर्तिः।

शब्दार्थ—ब्रह्मणः—परमात्मा की, प्रजापति—ब्रह्मा की, आत्मनः—आत्मा की।

हिन्दी अर्थ—आचार्य परमात्मा की, पिता ब्रह्मा की, माता पृथिवी की तथा भाई आत्मा की मूर्ति है।

संस्कृत व्याख्या—आचार्यः—शिक्षकः, मोक्षोपदेशात् ब्रह्मणः—परमात्मनः, मूर्तिः—प्रतिमा, पिता—जन्मदः, रक्षणात् प्रजापतेः—विधातुः, मूर्तिः—प्रतिरूपः, माता—जन्मदात्री, तु, धारणात् पृथिव्याः—धरित्र्याः, मूर्तिः—आकृतिः, स्वः भ्राता—निज सहोदरः, स्नेहात् आत्मनः—स्वकीयस्य, मूर्तिः—शरीरमस्ति।

विशेष—जो अन्तःकरण को भावित करता है, जो जन्म देती है, जिसके द्वारा विद्या का उपदेश दिया जाता है और ज्येष्ठ भ्राता—ये सम्मान्य की श्रेणी में गण्य हैं—'यो भावयति या सूते येन विद्योपदिश्यते। ज्येष्ठोभ्राता.......एते गुरवः स्मृताः।'

—स्मृतिचन्द्रिका, पृष्ठ ३५

माता-पिता के अपार ऋण से निवृत्ति असम्भव—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्याः कर्तुं वर्षशतैरपि।।२२७।।

अन्वय—मातापितरौ नृणां सम्भवे यं क्लेशं सहेते तस्य वर्ष—शतैः अपि निष्कृतिः कर्तुं न शक्या ।

शब्दार्थ—सम्भवे—उत्पत्ति में, निष्कृतिः—प्रतिकार ।

हिन्दी अर्थ—माता-पिता मनुष्यों के जन्म में जो कष्ट सहते हैं, सैकड़ों वर्षों में भी उसका प्रतिकार असम्भव है ।

संस्कृत व्याख्या—माता च पिता च, जननीजनकौ, नृणां—अपत्यानां, सम्भवे—उत्पत्तौ, यं, क्लेशं—सहेते—अनुभूयेते, तस्य—क्लेशस्य, वर्षशतैरपि—वर्षाणां शतानि, तैः, निष्कृतिः—बहुजन्मभिः, कर्तुं—विधातुं, न, शक्या—समर्था ।

विशेष—क्लेशम्—माता भ्रूण शिशु के गर्भधारण एवं प्रसववेदना कष्ट को तथा पिता बालक के संरक्षण, संवर्धन तथा शिक्षण आदि दायित्वों के दुःख को सहर्ष सहन करते हैं । पुत्र पिता के ब्रह्म अध्ययन, यज्ञ (शुभ कर्म) लोक—यशः रूप में स्थापित, उसके अकृत को पूर्ण कर दायित्वों से मुक्ति दिला देता है, इसीलिए उसे पुत्र कहते हैं—'अथातः सम्प्रतिर्यदा प्रैष्यन् मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक.......। स यद्यनेन किञ्चिदक्ष्णयाऽकृतं भवति तस्मादेनं सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति ।

—बृहदारण्यक उपनिषद्, १.५.१७

आचार्यादि की सन्तुष्टि आवश्यक—

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा ।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते ॥२२८॥

अन्वय—तयोः नित्यम् आचार्यस्य च सर्वदा प्रियं कुर्यात्, तेषु एव त्रिषु तुष्टेषु सर्वं तपः समाप्यते ।

शब्दार्थ—तुष्टेषु—सन्तुष्ट होने पर, समाप्यते—प्राप्त होते हैं का सर्वदा प्रिय कार्य करे, उन तीनों की सन्तुष्टि में ही समग्र तप समाहित होते हैं ।

संस्कृत व्याख्या—तयोः—जननीजनकयोः, नित्यं—अविरतं, आचार्यस्य—गुरोः, च, सर्वदा—आजीवनं, प्रियं—रुचिकरं, कुर्यात्—सम्पादयेत्, तेषु—पूर्वोक्तेषु, एव, त्रिषु—जननीजनकाचार्येषु, तुष्टेषु—प्रसादेषु, सर्वं—सकलं, तपः—पुण्यकर्म—समाप्यते—परिपूर्यते ।

विशेष—समाप्यते—दो प्रकार के अर्थ सम्भव हैं—सम् आप्यते—'सम्यग् आप्यते' अथवा—'समाप्तिं गच्छति—तपसः चरमसीमा तेष्वेव अस्ति' ।

आचार्यादि की अनुज्ञा अनिवार्य---

तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
न तैरभ्यननुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत् ॥२२९॥

अन्वय---तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तपः उच्यते, तैः अभ्यननुज्ञातः अन्यं धर्मं न समाचरेत् ।

शब्दार्थ---परमं---सर्वश्रेष्ठ, अभ्यननुज्ञातः---अनुज्ञा के बिना ।

हिन्दी अर्थ---उन तीनों की सेवा सर्वोत्कृष्ट तप कही गई है ? उनकी अनुमति के बिना दूसरे धर्म का आचरण न करे ।

संस्कृत व्याख्या---तेषां---पूर्वोक्तानां, त्रयाणां---जननीजनकाचार्याणां, शुश्रूषा ---परिचर्या, परमं---श्रेष्ठं, तपः---तपस्या, उच्यते---स्वीक्रियते, तैः---एतत्त्रयैः, अभ्यननुज्ञातः---अनाज्ञप्तः, अन्यं धर्मं---तीर्थव्रतोपवासादिकं, न, समाचरेत्---अनुतिष्ठेत् ।

विशेष---अभ्यननुज्ञात---शास्त्र निर्दिष्ट स्वधर्म के पालन में माता-पिता एवं आचार्य की अनुमति की आवश्यकता नहीं है क्योंकि स्वधर्म का अनुष्ठान प्रत्येक परिस्थिति में श्रेयस्कर है किन्तु पर धर्म का स्वीकार उचित नहीं है---

'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' ॥

---श्रीमद्भगवद्गीता ३.३५

आचार्यादि की त्रयः स्वरूपता---

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥२३०॥

अन्वय---हि ते एव त्रयः लोकाः, ते स्व त्रयः आश्रमाः, हि ते एव त्रयः वेदाः, ते एव त्रयः अग्नयः उक्ताः ।

शब्दार्थ---त्रयः---तीन, लोकाः---संसार ।

हिन्दी अर्थ---क्योंकि वे ही तीन लोक हैं, वे ही तीन आश्रम हैं, वे ही तीन वेद हैं, वे ही तीन अग्नियाँ कहे गए हैं ।

संस्कृत व्याख्या---हि यतः, फलप्रदायकत्वात्---ते मातापिताचार्यः एव, त्रयः लोकाः---भूर्भुवः स्वर्लोकाः, ते एव त्रयः आश्रमाः---ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थाश्रमाः, हिते एव त्रयः वेदाः---ऋग्यजुःसामवेदाः ते एव त्रयः अग्नयः---गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्नयः, उक्ताः---कथिताः

विशेष—माता-पिता-आचार्य की सेवा से भूः भुव, स्वः—लोकों के साधन, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास—तीनों आश्रमों के रक्षण, ऋक्, यजुः, साम—तीनों वेदों के स्वाध्याय तथा गार्हपत्य, आहवनीय एवं दक्षिणात्य—तीनों अग्नियों की स्थापना—इन सबसे मिलने वाला पुण्यफल प्राप्त होता है। —मेधातिथि

जन्मभूमि के समान प्रीतिदायिनी होने से पृथ्वी लोक माता, सिञ्चन कर्म वर्ष के समान सन्तुष्टि प्रदान करने से अन्तरिक्ष लोक पिता, ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग दिखाने से स्वर्ग लोक आचार्य हैं। द्वितीय जन्म में अधिकार दिलाने से ब्रह्मचर्याश्रम माता, भोगों की उपलब्धि कराने से गृहस्थाश्रम पिता, आध्यात्मिकता में प्रेरित करने से संन्यासाश्रम आचार्य हैं। (वानप्रस्थ आश्रम का अन्तर्भाव पत्नी के साथ होने पर गृहस्थाश्रम में एवं साथ न होने पर संन्यासाश्रम में माना गया अतः उसे नहीं कहा गया है)। देवता गुण (स्नेह) से ऋग्वेद माता, आदेश गुण (दायित्व निर्वाह) से यजुर्वेद पिता, अध्ययन गुण (उपनयन) से सामवेद आचार्य हैं। —नन्दन

आचार्यादि त्रेताग्नि स्वरूप—

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥२३१॥

अन्वय—पिता वै गार्हपत्यः अग्निः, माता दक्षिणः अग्निः गुरुः तु आहवनीयः (अग्निः) स्मृतः सा अग्नित्रेता गरीयसी।

शब्दार्थ—अग्नित्रेता—तीन अग्नियों का समूह, त्राण के लिए अभिप्राय, गरीयसी—गौरवमय।

हिन्दी अर्थ—पिता गार्हपत्यअग्नि, माता दक्षिण अग्नि और आचार्य आहवनीय अग्नि हैं, वे तीनों अग्निसमूह अथवा रक्षा निमित्त से उपलब्ध तीनों अग्नियाँ गौरवमयी हैं।

संस्कृत व्याख्या—पिता—जनकः, वै शब्दोऽवधारणे, गार्हपत्यः अग्निः—तदाख्यः पावकः, माता—जननी, दक्षिणः अग्निः—तदाख्यः अनलः, गुरुः—आचार्यः, तु आहवनीयः अग्निः—तदाख्यः ज्वालः, स्मृतः—कथितः, सा—पूर्वोक्ता, अग्नित्रेता—त्राणार्थम् इता त्रेता, त्रेता चासौ अग्निः; अग्नेः त्रयी, गरीयसी—महीयसी।

विशेष—अग्नित्रेता—गार्हपत्याग्नि—गृहपतिना नित्यं संयुक्तः होत्रादि-साधनाधानाङ्गतया च प्राग् आधेयः'। विवाहोपरान्त गृहस्थ का प्रथम कर्त्तव्य था—वृत्ताकार यज्ञवेदी में देवपूजन हेतु अग्न्याधान। ऋत्विक् निम्न ऋचा से घर्षण द्वारा अग्नि का आवाहन करता था—

'इह प्रियं प्रजया मे समृध्यताम् । अस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि' ।।

—ऋग्वेद, १०.८५.२७

दक्षिणाग्नि—दक्षिणाग्नि—'दक्षिणोऽनुकूलोऽग्नि': अथवा 'यज्ञाग्निविशेषः' इति अमरः अथवा 'दक्षिणस्या दिशोऽग्निः ।'

—भरत

'दत्तासु दक्षिणास्वादौ तृप्तिर्भूत्वा यतोऽमरान् ।
नयसे दक्षिणाभागं दक्षिणाग्निस्ततोऽभवत्' ।।

—वराहपुराण

'अन्वाहार्यं दक्षिणाग्नावधिश्रयति' ।

—कात्यायन श्रौतसूत्र, २.५.२०

दक्षिणाग्नि को अन्वाहार्य पचन भी कहते हैं, इसकी स्थापना के लिए दक्षिण दिशा में अर्द्धवृत्ताकार वेदी बनाई जाती थी ।

आहवनीयाग्नि—'आहूयते प्रणीयते प्रक्षिप्यते वा हविरत्र' अथवा 'आहवनमर्हति—गार्हपत्याउद्धृत्य होमार्थं यः संस्क्रियते ।'

—भरत

आहवनीय अग्नि की स्थापना के लिए वर्गाकार वेदी का निर्माण किया जाता था । गार्हपत्य अग्नि की स्थापना के एक दिन पश्चात् दो अरणियों से यजमान एवं यजमानपत्नी द्वारा घर्षण से आहवनीय अग्नि का आधान करवाता था ।

उत्पत्ति रूप गुण से पिता गार्हपत्य अग्नि, परतन्त्रता रूप गुण से माता दक्षिण अग्नि, पुरुषार्थ शिक्षण रूप गुण से आचार्य आहवनीय अग्नि हैं ।   —गोविन्दराज

प्रथम उपयोगिता के कारण पिता गार्हपत्य, अल्प उपयोगिता के कारण माता दक्षिण अग्नि, बहु उपयोगिता के कारण आचार्य आहवनीय अग्नि हैं—सर्वज्ञनारायण

भोगों की उपलब्धि रूप सामान्यता से पिता गार्हपत्य अग्नि स्वरूप हैं, श्रुतिवाक्य है—'स्वदितं तोकाय तनयाय पितुं पच' । अन्न के प्रति श्रद्धा उत्पत्ति रूप सामान्यता से माता दक्षिण अग्नि स्वरूप है; श्रुति वाक्य है—'अन्नमेवास्मै श्रद्दधात' । ब्रह्मलोक में अधिकार रूप सामान्यता से गुरु आहवनीय अग्नि रूप है, श्रुतिवाक्य है ।

—'अमुष्मिन्नाहवनीय'

आचार्यादि की सेवा से लाभ—

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींलोकान्विजयेद् गृही ।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते ।।२३२।।

अन्वय—गृही ऐतेषु त्रिषु अप्रमाद्यन् त्रीन् लोकान् विजयेत् स्ववपुषा दीप्यमानः दिवि देववत् मोदते ।

शब्दार्थ—स्ववपुषा—अपनी देह से, दिवि—स्वर्ग में, मोदते—आनन्दित होता है।

हिन्दी अर्थ—गृहस्थ पुरुष इन तीनों के प्रति सावधान रहकर तीनों लोकों को जीत लेता है, अपने शरीर से कान्तिमान् होकर देवलोक में इन्द्रादि देवों के समान आनन्द का उपभोग करता है।

संस्कृत व्याख्या—गृही—गृहमस्यास्तीति गृही, गृहस्थः, एतेषु उपरिकथितेषु त्रिषु—मातापितााचार्येषु, अप्रमाद्यन्—अस्खलन्, त्रीन् लोकान्—भूर्भुवः स्वरिति लोकान्, विजयेत्—आधिपत्यं स्थापयेत, स्ववपुषा—स्वस्य वपुः तेन, निजशरीरेण, दीप्यमानः—भासमानः, दिवि—स्वर्गे, देवता—आदित्यादीनाम् अमराणां तुल्यः, मोदते—प्रसादं गच्छति।

विशेष—ब्रह्मचारी माता-पिता-आचार्य की समुचित शुश्रूषा से त्रिलोकजयी होता है। गृहस्थ पुरुष सेवा के विषय में आजीवन दत्तावधान रहे तो इन लोकों के साथ-साथ देवताओं के सामीप्य फल को तथा मुक्ति की आह्लादमयी स्थिति को प्राप्त करता है—

'त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद् विदित्वा, य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य, शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥'

—कठोपनिषद्, १.१८

आचार्यादि की भक्ति से लोक प्राप्ति—

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेवं ब्रह्मलोकं समश्नुते॥२३३॥

अन्वय—मातृभक्त्या इमं लोकं, पितृभक्त्या तु मध्यमं (लोकं) एवं गुरुशुश्रूषया ब्रह्मलोकं समश्नुते।

शब्दार्थ—मातृभक्त्या—माँ की भक्ति से, इमं—पृथिवी को, मध्यमं—मध्यमलोक अर्थात् स्वर्ग को।

हिन्दी अर्थ—(गृहस्थ पुरुष) माँ की भक्ति से इस लोक अर्थात् पृथिवी को, पिता की भक्ति से मध्यम अर्थात् अन्तरिक्ष लोक को और आचार्य की सेवा से ब्रह्मलोक अर्थात् हिरण्यगर्भ लोक को प्राप्त करता है।

संस्कृत व्याख्या—मातृभक्त्या—मातुः मातरि वा भक्त्या, जननीसेवया; इमं—पृथिवीं, लोकं, पितृभक्त्या—पितुः पितरि वा भक्त्या, जनकाराधनया; तु, मध्यमं—स्वर्गमन्तरिक्षं वा लोकं, एवं—एवमेव, गुरुशुश्रूषया—गुरोः शुश्रूषा तया आचार्यश्रद्धया, ब्रह्मलोकं—ब्रह्मणः लोकं, हिरण्यगर्भलोकं, समश्नुते—प्राप्नोति।

विशेष—माता धारण क्षमता अथवा सहनशीला होने से धरित्री का, पिता पालनवृत्ति से प्रजापति के वासस्थान अन्तरिक्ष का एवं आचार्य वेदज्ञान-दान गुण से ब्रह्मलोक का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके प्रति श्रद्धा भाव रखने से मनुष्य तीनों ही लोकों में सुख को प्राप्त करता है।

आचार्यादि के आदर से सभी धर्म आदृत—

सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफला क्रियाः ॥२३४॥

अन्वय—यस्य एते त्रयः आदृताः तस्य सर्वे धर्माः आदृताः यस्य एते तु अनादृताः तस्य सर्वाः क्रियाः अफलाः।

शब्दार्थ—आदृताः—आदर किया, अफलाः—निष्फल।

हिन्दी अर्थ—जिस गृहस्थ पुरुष ने इन तीनों का आदर किया उसने सभी धर्मों का आदर किया, जिसने इन तीनों का अनादर किया, उसकी (श्रुतिस्मृतिविहित) सभी क्रियाएं निष्फल हुईं।

संस्कृत व्याख्या—यस्य—गृहस्थ पुरुषस्य, एते त्रयः—मातृपित्राचार्याः, आदृताः—सत्कृताः, तस्य—पुरुषस्य, सर्वे—निखिलाः, धर्माः—यमनियमादयः, आदृताः—अर्चिताः, यस्य, एते—जननीजनकाचार्याः, तु, अनादृताः—असंपूजिताः, तस्य—कृतघ्नपुरुषस्य, सर्वाः—सकलाः, क्रियाः—श्रुतिस्मृतिविहितानुष्ठानानि, अफलाः—निष्फलानि भवन्ति।

विशेष—पुरुष विशेष के सत्कार से सन्तुष्ट माता-पिता-आचार्य के आशीर्वाद से सभी बाधाएं सहज समाप्त हो जाती हैं।

आचार्यादि की आजीवन सेवा—

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्प्रियहिते रतः ॥२३५॥

अन्वय—यावत् त्रयः ते जीवेयुः तावत् अन्यं न समाचरेत् तेषु एव प्रियहिते रतः नित्यं शुश्रूषां कुर्यात्।

शब्दार्थ—जीवेयुः—जीवित रहें, अन्यं—अन्य धर्म को, प्रियहिते—प्रीति और कल्याण सम्पादन में।

हिन्दी अर्थ—जब तक वे तीनों जीवित रहें तब तक अन्य धर्म को (स्वेच्छा से) न करे, उनके ही प्रिय एवं सुखकर कार्यों में व्यस्त रहता हुआ (उनकी) नित्य सेवा करे।

संस्कृत व्याख्या—यावत्—यावत्कालपर्यन्तं, त्रयः ते—मातापित्राचार्याः, जीवेयुः—प्राणान्धारयेयुः, तावत्—तावत्क्षणपर्यन्तं, अन्यं—इतरं धर्मं (स्ववर्णाश्रमाननुरूपं), न, समाचरेत्—स्वीक्रियेत्, तेषु—त्रिषु, एव प्रियहिते—प्रियं च हितं च तस्मिन्, प्रीतिसौख्यसम्पादने, रतः—संलग्नः, नित्यं—आजीवनं, शुश्रूषां—सेवां, कुर्यात्—धारयेत् ।

विशेष—माता-पिता-आचार्य की अनुमति से अन्य धर्म का समाचरण सम्भव है किन्तु अनुमति न होने पर स्व-इच्छा होते हुए भी अन्य धर्म को व्यवहार में न लाये । औषधि-पान के सम्मान ज्येष्ठानुकूल आचरण अनुष्ठान काल में दुःसाध्य हो सकता है किन्तु परिणाम निश्चय ही सुखदायी होगा । इस दृष्टि से हित शब्द का प्रयोग सार्थक है । जो भविष्य में इष्ट सिद्धि का माध्यम बने ।—'आयत्यामिष्टसाधनम् ।'

आचार्यादि के प्रति समग्र कर्म निवेदित—

तेषामनुपरोधेन पारत्र्यं यद्यदाचरेत् ।
तत्तन्निवेदयेत्तेभ्यो मनोवचनकर्मभिः ॥२३६॥

अन्वय—तेषाम् अनुपरोधेन मनोवचनकर्मभिः यत् यत् पारत्र्यम् आचरेत् तत् तत् तेभ्यः निवेदयेत् ।

शब्दार्थ—अनुपरोधेन—अनुमति अथवा विरोध के बिना, पारत्र्यं—परलोक के फल से सम्बन्ध रखने वाला ।

हिन्दी अर्थ—उनकी अनुज्ञा के बिना मन, वचन तथा कर्म से जो-जो पारलौकिक कर्म करे उसे उन्हीं के लिए समर्पित कर दे ।

संस्कृत व्याख्या—तेषां—जननीजनकाचार्याणां, अनुपरोधेन—न उपरोधः तेन, अनाज्ञप्तेन, मनोवचनकर्मभिः—मनश्च वचनं च कर्म च तैः, चित्तवाक्क्रियाकलापैः; यत् यत्, पारत्र्यं—परत्र भावं पारत्र्यं, पारलौकिक कर्मानुष्ठानं; आचरेत्—अर्जेत्, तत् तत्, तेभ्यः—मातृपित्राचार्येभ्यः, निवेदयेत्—मयानुष्ठितमिति समर्पयेत् ।

विशेष—निवेदयेत्—उन्हें सूचित कर दे अथवा उचित तो यह है कि अनुष्ठानजन्य पुण्यफल उन्हें समर्पित कर दे । महाभारत में कहा गया है—

'यत्किञ्चित्कर्मसंयुक्तमाचरामि युधिष्ठिर ।
मातापित्रोर्गुरोश्चैव तत्सर्वं विसृजाम्यहम् ॥'

आचार्यादि की सेवा परं धर्म—

त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥२३७॥

अन्वय—हि एतेषु त्रिषु पुरुषस्य इतिकृत्यं समाप्यते, एषः साक्षात् परः धर्मः अन्यः उपधर्मः उच्यते।

शब्दार्थ—इतिकृत्यं—कर्त्तव्यसमाप्ति अथवा पुरुषार्थप्राप्ति, उपधर्म—गौण धर्म।

हिन्दी अर्थ—इन तीनों की सेवा में पुरुष की इतिकर्त्तव्यता अर्थात् कर्त्तव्य की समाप्ति हो जाती है यही साक्षात् परम धर्म है अन्य (अग्निहोत्रानुष्ठानादि) धर्म गौणधर्म कहे गए हैं।

संस्कृत व्याख्या—हि—यतः, एतेषु त्रिषु—जननीजनकाचार्येषु, पुरुषस्य—सद्गृहस्थस्य, इतिकृत्यं—श्रौतस्मार्तकर्त्तव्यकार्त्स्न्यं, समाप्यते—परिपूर्यते एषः शुश्रूषारूपः, साक्षात्—पुरुषार्थसाधनत्वात्, परः धर्मः—सर्वोत्कृष्टः धर्मः, अन्यः—अवशिष्टः स्वर्गसाधनत्वात्, उपधर्मः—गौणधर्मः, उच्यते—आख्यायते।

विशेष—माता-पिता-आचार्य का प्रियसम्पादन नृपस्थानीय तथा यज्ञानुष्ठान आदि प्रतिहारस्थानीय है, अतः उनको पर्याप्त सेवा से प्रसन्न रखना चाहिए।

विद्या, धर्म, आदि की ग्राह्यता—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥२३८॥

अन्वय—श्रद्दधानः शुभां विद्याम् अवरात् अपि आददीत अन्त्यात् अपि परं धर्मं, दुष्कुलात् अपि स्त्रीरत्नं (आददीत)।

शब्दार्थ—शुभां—श्रेष्ठ, अवरात्—शूद्र से, दुष्कुलात्—कलंकित कुल से।

हिन्दी अर्थ—श्रद्धाभाव से युक्त पुरुष श्रेष्ठ (गारुड आदि) विद्या को निकृष्ट जाति (के पुरुष) से भी ग्रहण कर ले, चाण्डाल से भी उत्कृष्ट धर्म तथा दूषित कुल से भी स्त्रीरत्न अर्थात् श्रेष्ठ स्त्री को स्वीकार कर ले।

संस्कृत व्याख्या—श्रद्दधानः—श्रद्धावान्, शुभां—श्रेष्ठां, विद्यां—गारुडादिविद्यां, अवरात्—अधमवर्णपुरुषात्, अपि, आददीत—गृह्णीत, अन्त्यात्—चाण्डालात्, अपि, परं—सर्वोत्कृष्टं, धर्मं—व्यवस्थादिकं, दुष्कुलात्—दुष्टं कुलं तस्मात् शूद्रवर्णवंशात्, अपि, स्त्रीरत्नं—स्त्री रत्नमिव इति, नारीरत्नं (आददीत)।

विशेष—श्रद्दधानः—'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्।' अतः सभी वर्णों के व्यक्ति वर्ण धर्म का पालन न करने वाले पुरुष से भी व्यावहारिक ज्ञान ग्रहण कर, उसके प्रति सदैव श्रद्धावान् रहे। —श्रीमद्भगवद्गीता २.३९

शुभां विद्यां—दार्शनिक भावना से युक्त अन्तःकरण वाला शिष्य दर्शन-शास्त्र (सांख्य, न्याय, मीमांसा) को, आस्तिक भावना से युक्त अन्तःकरण वाला शिष्य विशदकाव्य (रामायण, महाभारत, पुराण) को तथा साहित्यिक भावना से युक्त अन्तःकरण वाला शिष्य नाट्यशास्त्र को, व्यावहारिक भावना से युक्त अन्तःकरण वाला शिष्य मन्त्रविद्या को हीन जाति के पुरुष से भी सीख सकता है।

—मेधातिथि

गारुड विद्या—साँपों का विष उतारने का मन्त्र अथवा ऐसी विद्या जिसके परिणाम की अनेक बार परीक्षा हो चुकी हो। —कुल्लूकभट्ट

परं धर्म—श्रुतिस्मृति की अपेक्षा न रखने वाला उत्कृष्ट लौकिक धर्म अथवा धर्म शब्द व्यवस्था अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। वेदानुशीलन चाण्डाल के वश का नहीं, ऐसी स्थिति में उससे (परं धर्म) मोक्ष ज्ञान की आशा करना व्यर्थ है। किन्तु यदि अन्त्य अर्थात् चाण्डाल पुरुष कहे कि इस स्थान पर अधिक देर रुकना अथवा इस जल में स्नान करना उचित नहीं है तो उस व्यावहारिक ज्ञान को मान लेना चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि यह तो चाण्डाल है मैं इसका आदेश क्यों मानूँ ?

अमृता आदि की ग्राह्यता—

विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम्॥२३९॥

अन्वय—विषात् अपि अमृतं ग्राह्यं, बालात् अपि सुभाषितं (ग्राह्यं) अमित्राद् अपि सद्वृत्तं (ग्राह्यं) अमेध्यात् अपि काञ्चनं (ग्राह्यं)।

शब्दार्थ—सुभाषितं—सुन्दर उक्ति को, सद्वृत्तं—उत्तम आचरण, अमेध्यात्—अपवित्र से।

हिन्दी अर्थ—विष से भी अमृत को, बालक से भी सुक्ति को, शत्रु से भी सदाचार को, अपवित्र (स्थान) से भी सुवर्ण को ग्रहण कर लेना चाहिए।

संस्कृत व्याख्या—विषात्—हलाहलात्, अपि, अमृतं—पीयूषं, ग्राह्यं—ग्रहणीयं, बालात्—बालकात्, अपि, सुभाषितं—हितकारिवचनं, ग्राह्यं, अमित्रात्—न मित्रं तस्मात् शत्रोः, अपि, सद्वृत्तं, सतां वृत्तं शिष्टाचारं, ग्राह्यं, अमेध्यात्—न मेध्यं तस्मात्, अपवित्रस्थानात्, अपि, काञ्चनं—सुवर्णं, ग्राह्यं।

विशेष—विष से अमृत 'ओषधि' रूप में, बालक से सुभाषित, 'कल्याण वचन' रूप में, शत्रु से सदाचार 'नीति' रूप में तथा 'अपवित्रता' से सोना 'मूल्यवान्' रूप में ग्रण कर लेना चाहिए।

श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात् ।
सुवर्णमपि चामेध्यादाददीताविचारयन् ।।'

—महाभारत, शांतिपर्व १६.५.३१

लोकजित् उद्गाता का यही रहस्य है कि वह असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरत्व की ओर जाने की इच्छा करता है—

'असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय'

—बृहदारण्यक उपनिषद्, १.३.२८

समग्र वस्तुओं की ग्राह्यता—

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ।।२४०।।

अन्वय—अथ उ स्त्रियः रत्नानि विद्या धर्मः शौचं सुभाषितं विविधानि शिल्पानि सर्वतः समादेयानि ।

शब्दार्थ—शौच—शुद्धता, शिल्प—कला-कौशल, समादेयानि—ग्रहण योग्य ।

हिन्दी अर्थ—स्त्रियाँ, रत्न, विद्या, धर्म, पवित्रता, सुभाषित, तथा अनेक प्रकार के शिल्प (कला-कौशल आदि) सब ओर ग्रहण करने योग्य है ।

संस्कृत व्याख्या—अथ उ स्त्रियः—नार्यः, रत्नानि—मणिमाणिक्यहीरकादीनि, विद्या—ज्ञानं, धर्मः—धर्मतत्त्वं, शौचं—शुद्धत्वं, सुभाषितं—माङ्गलिकवचनं, विविधानि—अनेकप्रकाराणि, शिल्पानि—कलाकौशलादीनि, सर्वतः—दिक्देश जातिवर्गविशेषमनपेक्ष्य सर्वस्मात्, समादेयानि—स्वीकर्त्तव्यानि ।

विशेष—स्त्रियः रत्नानि—ब्युहलर का कथन है कि यह एक साथ अन्वित पद है तब इसका अर्थ है । स्त्रियाँ जो रत्नवत् श्रेष्ठ हैं—excellent wives.

इस विषय में कहा गया है सोम से पवित्रता, गन्धर्वों से शुभ वाणी व अग्नि से सर्वमेध्यता अर्जित करने के कारण स्त्रियाँ सदा पवित्र हैं—

सोमः शौचं ददौ तासां गन्धर्वाश्च शुभां गिरम् ।
पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितः सदा ।।'

अब्राह्मण से विद्याध्ययन—

अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते ।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरो ।।२४१।।

अन्वय—आपत्काले अब्राह्मणात् अध्ययनं विधीयते, गुरोः अनुव्रज्या शुश्रूषा च यावत् अध्ययनं । (तावत् कुर्यात्) ।

शब्दार्थ—आपत्काले—ब्राह्मण अध्यापक न मिलने पर, विधीयते—विधान है, अनुव्रज्या—अनुगमन।

हिन्दी अर्थ—आपत्ति काल में (ब्राह्मण गुरु के अभाव में) अब्राह्मण से अध्ययन शास्त्रानुमोदित है, (किन्तु अब्राह्मण) गुरु का अनुगमन एवं शुश्रुषा (चरण स्पर्श, प्रक्षालन आदि) जब तक पढ़े (तब तक ही करनी चाहिए)।

संस्कृत व्याख्या—आपत्काले—आपदः कालः तस्मिन्, संकटकाले; ब्राह्मणाचार्याभावे, अब्राह्मणात्—न ब्राह्मणः तस्मात्, क्षत्रियात् वैश्याद्वा:, अध्ययनं—विद्याग्रहणं, विधीयते—उपदिश्यते, गुरोः—शिक्षकस्य अनुव्रज्या—अनुव्रजितुं योग्या अनुगमनादिरूपाः, शुश्रूषा—पादवन्दनोच्छिष्टभक्षणादिकः, च, यावत्—यावत्कालपर्यन्तं, अध्ययनं—शिक्षाग्रहणं तावदेव कर्त्तव्या।

विशेष—आपत्काले—(१) आचार्य अन्य देश को प्रस्थान कर गया हो, (२) योग्य अध्यापक का अभाव हो, (३) माणवक शिक्षा योग्य स्थान गमन में असमर्थ हो। —मेधातिथि

अब्राह्मणात्—ब्राह्मण अध्यापक के अभाव में क्षत्रिय तथा क्षत्रिय के अभाव में वैश्य से शिक्षा ग्रहण करे। इस विषय में एक सिद्धान्त प्राप्त है कि ब्राह्मण द्वारा प्रेरित किए जाने पर ही क्षत्रिय अथवा वैश्य शिक्षा दान करें स्वेच्छा से नहीं—

'अध्यापनं तु क्षत्रियवैश्ययोर्ब्राह्मणप्रेरितयोर्भवति न स्वेच्छया।'

—याज्ञवल्क्य स्मृति, १.११८

अध्ययन—अध्यापन में अधिकार न होने से शूद्र गुरु नहीं हो सकता है।

गुरु—गुरुत्व का निर्णय करते हुए महर्षि व्यास कहते हैं कि अध्ययन काल तक क्षत्रिय का सम्मान विप्र द्वारा किया जाएगा, अध्ययन के पश्चात् ब्राह्मण पुनः गुरु रूप में स्मृत होगा—

'मन्त्रदः क्षत्रियो विप्रैः शुश्रूषानुगमादिना।
प्राप्तविद्यो ब्राह्मणस्तु पुनस्तस्य गुरुः स्मृतः॥'

—व्यास स्मृति, १३५

आत्यन्तिक वास का निषेध—

नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम्॥२४२॥

अन्वय—शिष्यः अनुत्तमां गतिं काङ्क्षन् अब्राह्मणे गुरौ अननूचाने ब्राह्मणे च आत्यन्तिकं वासं न वसेत्।

शब्दार्थ—अनुत्तमां—सर्वोत्तम मोक्षरूप, अननूचाने—(१) अङ्गोपाङ्ग सहित वेद को न पढ़ने वाला, (२) वेद के व्याख्यान में असमर्थ, (३) विद्या अरसिक।

हिन्दी अर्थ—शिष्य सर्वोत्तम अर्थात् मोक्षरूप गति को अभिलाषा करता हुआ अब्राह्मण गुरु के समीप अथवा साङ्गवेदाध्ययन से रहित ब्राह्मण गुरु के समीप आत्यन्तिक वास अर्थात् आजीवन ब्रह्मचर्य हेतु निवास न करे।

संस्कृत व्याख्या—शिष्यः—शास्तुं योग्यः जिज्ञासु छात्रः, अनुत्तमां—न उत्तमः यस्याः सा ताम्, अतुलनीयां, मोक्षप्रापकां, गतिं—स्थितिं,—काङ्क्षन्—अभिलषन्—अब्राह्मण—क्षत्रियवैश्ये, अननूचाने—न अनूचानः तस्मिन्, साङ्गवेदज्ञानरहिते, ब्राह्मणे—विप्रे, च, आत्यन्तिकं—यावज्जीवं ब्रह्मचर्यं पालयन्, वासं—निवासं, न, वसेत—कुर्यात्।

विशेष—आचार्य की कतिपय विशेषताओं की गणना शास्त्रों में इस प्रकार है—

'वृद्धा ह्यलोलुपाश्चैव आत्मवन्तो ह्यदम्भकाः।
सम्यग्विनीता ऋजवस्तानाचार्यान् प्रचक्षते॥'

—वायुपुराण १.५९.३९

वृद्ध, निर्लोभी, गम्भीर, विनम्र एवं सरलस्वभाव होने के अतिरिक्त सत्यवाक्, धृतिमान्, दक्ष, दयालु, आस्तिक, वेदज्ञ व पवित्र व्यक्ति ही आचार्यत्व के योग्य है—

'सत्यवाक् धृतिमान् दक्षः सर्वभूतदयापरः।
आस्तिको वेदनिरतः शुचिराचार्य उच्यते॥'

—वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश, पृष्ठ ४०८

आत्यन्तिक वास में गुरुसेवा—

यदि त्वात्यन्तिकं वासं रोचयेत गुरोः कुले।
युक्तः परिचरेदेनमाशरीरविमोक्षणात्॥२४३॥

अन्वय—यदि तु गुरोः कुले आत्यन्तिकं वासं रोचयेत् (तदा) आशरीरविमोक्षणात् युक्तः एनं परिचरेत्।

शब्दार्थ—आत्यन्तिकं—अत्यधिक, आजीवन, आशरीरविमोक्षणात्—शरीर से मुक्ति तक, मृत्यु काल तक।

हिन्दी अर्थ—यदि गुरु के कुल में आत्यन्तिक वास (आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य रक्षण) की इच्छा हो तो शरीर छूटने (मृत्यु) तक यत्नपूर्वक इनकी (गुरु) की सेवा करे।

संस्कृत व्याख्या—यदि—चेत्, तु, गुरोः—आचार्यस्य, कुले—आश्रमे, आत्यन्तिकं—आजीवनं ब्रह्मचर्यं पालयन् (नैष्ठिक-ब्रह्मचर्यं, वासं—निवासं, रोचयेत्—अभिलषेत्, तदा, आशरीरविमोक्षणात्—शरीरस्य विमोक्षणं, शरीरविमोक्षणं, तम् अभिव्याप्य, देहत्यागावधेः; युक्तः—सयत्नः, एनं—गुरुं, परिचरेत्—शुश्रूषेत।

विशेष—गुरोः कुले—आचार्य का गृह जहाँ किसी सामाजिक वैषम्य के बिना विद्यार्थी अध्ययन कार्य-करते थे।

आत्यन्तिकं वासम्—ब्रह्मचर्य की समाप्ति काल में विद्यार्थी को जीवन के दो मार्गों—उपकुर्वाण व नैष्ठिक—में से एक का चयन करना पड़ता था। प्रथम प्रवृत्ति मार्ग में विवाह कर, समग्र दायित्व ग्रहण करते हुए व्यस्त सांसारिक जीवन में प्रवेश तथा निवृत्ति मार्ग में सांसारिक बन्धनों से मुक्त रहकर मानसिक एवं शारीरिक तपश्चर्या पूर्ण जीवन व्यतीत करना। 'निष्ठां वेदगच्छतीति इतरस्तूपकुर्वाणक उच्यते। अध्ययनार्थं शुश्रूणाकरणं प्रवृत्तत्वात्।' —हारीतस्मृति

'आत्मानं निष्ठाम् उत्क्रान्तिकालं नयतीति नैष्ठिकः।'

—मिताक्षरा, याज्ञवल्क्य स्मृति, १.४९

ब्रह्मचारी बनकर अपने को तपस्या से क्षीण करते हुए, आचार्यकुल में रहना-यह धर्मरूपी वृक्ष की ब्रह्मचर्यरूपी तीसरी डाल है—'त्रयो धर्मस्कन्धा—ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्।'

—छान्दोग्य उपनिषद्, २.२३.१

शारीरिक दृष्टि से अपंग, कुबु, वामन, रोगी इत्यादि समावर्तन के अभाव में आजीवन ब्रह्मचारी रहते थे क्योंकि विवाह उनके लिए सम्भव नहीं था (परन्तु समृद्धिशाली होने पर इसके अपवाद भी उपलब्ध थे यथा—धृतराष्ट्र)।

'कुब्जवामनजात्यन्धक्लीबपङ्ग्वार्तरोगिणाम्।
व्रतचर्या भवेत्तेषां यावज्जीवमनंशतः॥'

—संस्कार मयूख, पृष्ठ ६२

आत्यन्तिक वास से ब्रह्मलोक प्राप्ति—

आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम्।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम्॥२४५॥

अन्वय—यः तु शरीरस्य आ समाप्तेः गुरुं शुश्रूषते सः विप्रः ब्रह्मणः शाश्वतं सद्म अञ्जसा गच्छति।

शब्दार्थ—शाश्वतं—चिरन्तन, सद्म-गृह, लोक, अञ्जसा—शीघ्र।

हिन्दी अर्थ—जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी देहत्याग की अवधि तक गुरु की सेवा करता है वह परमात्मा के चिरन्तन धाम रूप अविनश्वर पद को शीघ्र ही प्राप्त करता है।

संस्कृत व्याख्या—यः नैष्ठिक ब्रह्मचारी, तु, शरीरस्य—देहस्य, आसमाप्तेः—परित्यागपर्यन्तं, गुरुं—आचार्यं, शुश्रूषते—परिचरति, सः—वटुषः, ब्रह्मणः—

परमात्मनः, शाश्वतं—अविनश्वरं, सद्म—स्थानं, अञ्जसा—झटित्येव, गच्छति—प्राप्नोति ।

विशेष—अञ्जसा—अक्लिष्ट मार्ग जहाँ मध्य में मनुष्य, पक्षी, प्रेतयोनि इत्यादि की बाधा न हो । —मेधातिथि

स्पष्ट मार्ग, जो अन्य गतियों से अव्यवहित हो । —गोविन्दराज

नैष्ठिक ब्रह्मचारी अपने व्रत से च्युत हो जाए तो उसके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है । —आत्रेय धर्मशास्त्र, ८.१८

गुरुदक्षिणा विधि—

न पूर्वं गुरवे किञ्चिदुपकुर्वीत धर्मवित् ।
स्नास्यंस्तु गुरुणाऽऽज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् ॥२४५॥

अन्वय—धर्मवित् पूर्वं गुरवे किञ्चित् न उपकुर्वीत, स्नास्यन् तु गुरुणा आज्ञप्तः शक्त्या गुर्वर्थम् आहरेत् ।

शब्दार्थ—उपकुर्वीत—उपकार करे, स्नास्यन्—समावर्तन स्नान करता हुआ, आज्ञप्तः—आज्ञा प्राप्त ।

हिन्दी अर्थ—धर्मवेत्ता ब्रह्मचारी (समावर्तन संस्कार से) पहले गुरु के (सेवा के अतिरिक्त दक्षिणा उपहार आदि) कुछ उपकार न करे, (समावर्तन) स्नान के लिए गुरु से आज्ञा लेकर सामर्थ्यानुसार गुरु के लिए (उपहार आदि) लाए ।

संस्कृत व्याख्या—धर्मवित्—धर्मं वेत्तीति, धर्मज्ञः, ब्रह्मचारी, पूर्वं—विद्याग्रहणकाले, समावर्तनस्नानात्पूर्वमित्यर्थः, गुरवे—आचार्याय, किञ्चित्—गोवस्त्रसुवर्णादिकं, न, उपकुर्वीत—दद्यात्, स्नास्यन्—विद्यासमाप्तिकाले समावर्तनस्नानमाचरिष्यन्, तु, गुरुणा—आचार्येण, आज्ञप्तः—आदिष्टः, शक्त्या—सामर्थ्यानुसारं गुर्वर्थं—गुरोः अर्थं, आहरेत्—आनयेत् ।

विशेष—महर्षि याज्ञवल्क्य से विदेहराज जनक ने कहा—मैं आपको सहस्र गाएँ और हाथी के समान बैल भेंट करता हूँ । याज्ञवल्क्य ने कहा, नहीं, मेरे पिता का यह आदेश है कि जब तक उपदेश पूर्ण न हो तब तक भेंट न ले—'हस्त्यृषभं सहस्रं ददामीति होवाच, जनको वैदेहः । स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ।' —बृहदारण्यकोपनिषद् ४.१.२

अध्यापन काल में वेतन लेने वाला गुरु भृतक अध्यापक कहा जाता है । विद्या के अन्त में शिष्य को गुरु से धन अथवा अन्य भौतिक सामग्री लेने की प्रार्थना करनी चाहिए, गुरु आज्ञापित कर दे अथवा बिना कुछ लिये जाने को कह दे तब शिष्य को स्नान करना चाहिए—'विद्यान्ते गुरुमर्थेन निमन्त्र्य कृत्वाऽनुज्ञातस्य वा स्नानम्' । —आश्वलायन गृह्यसूत्र, ३.९.४

दक्षिणा योग्य सामग्री—

क्षेत्रं हिरण्यं गामश्वं छत्रोपानहमासनम् ।
धान्यं शाकं च वासांसि गुरवे प्रीतिमावहेत् ॥२४६॥

अन्वय—उपकुर्वाण ब्रह्मचारी क्षेत्रं हिरण्यं गाम् अश्वं छात्रोपानहम् आसनं धान्यं शाकं वासांसि च (शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत्, एवं) गुरवे प्रीतिम् आवहेत् ।

शब्दार्थ—उपानह—जूता, आवहेत्—प्राप्त करे ।

हिन्दी अर्थ—उपकुर्वाण ब्रह्मचारी कृषियोग्य भूमि, सुवर्ण, गौ, अश्व, छाता, जूता, आसन, अन्न, शाक और वस्त्र (सामर्थ्यानुसार गुरु के लिए लाए, इस प्रकार) गुरु के लिए प्रसन्नता को लाए ।

संस्कृत व्याख्या—उपकुर्वाणब्रह्मचारी, क्षेत्रं—कृषिभूमिं, हिरण्यं—कञ्चनं, गां—धेनुं, अश्वं—वाजिनं, छत्रोपानहं—छत्रं च उपानत् च, अनयोः समाहारः; आतपत्र-पादुकां; आसनं—कुशोर्णनिर्मितकटं, धान्यं—अन्नादिकं, शाकं—भोजन-व्यञ्जनादिकं, वासांसि—वस्त्राणि, च, शक्त्या गुर्वर्थमाहरेत् एवं, गुरवे—आचार्याय, प्रीतिं—प्रसन्नतां स्नेहं वा, आवहेत्—उत्पादयेत् ।

विशेष—यदि गुरु एक अक्षर भी शिष्य को पढ़ा दे तो सम्पूर्ण पृथ्वी का द्रव्य देकर भी उस ऋण से उऋण नहीं हुआ जा सकता है—

'एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत् ।
पृथिव्या नास्ति तद् द्रव्यं, यद् दत्वा चानृणी भवेत्' ॥

—लघुहारीत

वस्तुतः शिष्य के कार्यों एवं व्यवहार से प्राप्त प्रसन्नता ही वास्तविक गुरु दक्षिणा है—'दक्षिणा परितोषो वै गुरुणां सद्भिरुच्यते'—महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, ५६.२१ । महर्षि दयानन्द ने गुरु विरजानन्द को दक्षिणास्वरूप मात्र एक मुट्ठी लौंग देकर, सुगन्धित जीवनचर्या का आशीर्वाद प्राप्त किया था । 'शक्त्या' पद सब कुछ देने का विधान नहीं करता है, यथा गुरु के आदेश से स्त्री नहीं देनी चाहिए ।

आचार्य के अभाव में गुरु के समान सम्मान्य जन—

आचार्ये तु खलु प्रेते गुरुपुत्रे गुणान्विते ।
गुरुदारे सपिण्डे वा गुरुवद् वृत्तिमाचरेत् ॥२४७॥

अन्वय—नैष्ठिकब्रह्मचारी आचार्ये तु खलु प्रेते गुणान्विते गुरुपुत्रे गुरुदारे (वा) सपिण्डे वा गुरुवत् वृत्तिम् आचरेत् ।

शब्दार्थ—प्रेते—मृत्यु के पश्चात्, गुणान्विते—गुणसम्पन्न।

हिन्दी अर्थ—नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्य के मृत्यु को प्राप्त हो जाने पर गुणवान्—गुरुपुत्र—में, गुरुपत्नी में अथवा सपिण्ड (चाचा, मामा आदि बान्धवों) में गुरु के समान आचरण करे।

संस्कृत व्याख्या—नैष्ठिक ब्रह्मचारी, आचार्ये—गुरौ, तु खलु प्रेते—मृते, गुणान्विते—गुणैः अन्वितः तस्मिन्, शिक्षणादिगुणयुक्ते; गुरुपुत्रे—गुरोः पुत्रः तस्मिन् आचार्यसुते; तदभावे, गुरुदारे—गुरोः दारः तस्मिन्, आचार्याणां; तदभावे, सपिण्डे—पितृव्यमातुलादौ बान्धवे, वा, गुरुवत्—आचार्यसमं, वृत्तिं—शुश्रूषाभैक्षार्पणादिकं व्यवहारं, आचरेत्—अनुतिष्ठेत्।

विशेष—यदि वे शिक्षणकार्य इत्यादि में समर्थ नहीं हैं तो गुरु तुल्य सम्मान के अधिकारी भी नहीं है।

सम्मान्यों के क्रमशः अभाव में कर्त्तव्य—

एतेष्वविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान्।
प्रयुञ्जानोऽग्निशुश्रूषां साधयेद् देहमात्मनः ॥२४८॥

अन्वय—एतेषु अविद्यमानेषु स्नानासनविहारवान् शुश्रूषां प्रयुञ्जानः आत्मनः देहं साधयेत्।

शब्दार्थ—अविद्यमानेषु—अविद्यमान न रहने पर, प्रयुञ्जानः—प्रयुक्त करता हुआ।

हिन्दी अर्थ—इनके न रहने पर स्नान, आसन और भ्रमण से युक्त (नैष्ठिक ब्रह्मचारी) अग्नि की परिचर्या (यज्ञभूमि लेपन प्रकृष्ट रूप से अग्नि होमादि) करता हुआ अपनी देह को सार्थक करे।

संस्कृत व्याख्या—एतेषु—पूर्वकथितेषु, गुरुसुतदारा—सपिण्डेषु, अविद्यमानेषु—अनुपलब्धेषु, स्नानासनविहारवान्—स्नानं च आसनं च विहारः च तद्वान्, मज्जनानदेशाटनशीलः; अग्निशुश्रूषां—अग्नेः शुश्रूषा तां, अग्निपरिचर्यां, समिद्धोममित्यर्थः; प्रयुञ्जान—विधिवत्कुर्वन्, आत्मनः—निजस्य, देहं—शरीरं, साधयेत्—मुक्त्यर्थं समर्पयेत्।

विशेष—स्नानासनविहारवान—कुल्लूकभट्ट के अतिरिक्त सभी टीकाकारों ने 'स्थानासनविहारवान्' पाठ ग्रहण किया है।

साधयेत्—ब्युहलर के अनुसार 'साधयेत्' का अर्थ है—'समापयेत्'—Finish his life।

ब्रह्मचर्य के मर्यादापूर्ण पालन से मोक्ष प्राप्ति—

एवं चरति यो विप्रो ब्रह्मचर्यमविप्लुतः ।
स गच्छत्युत्तमस्थानं न चेहाजायते पुनः ॥२४९॥

अन्वय—य विप्रः अविप्लुतः एवं ब्रह्मचर्यं चरति स उत्तमस्थानं गच्छति, इह च पुनः न जायते ।

शब्दार्थ—अविप्लुतः—अखण्डित ब्रह्मचर्य, उत्तमस्थानं—मोक्ष को ।

हिन्दी अर्थ—जो ब्राह्मण इस प्रकार अखण्डित ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह उत्तम लोक (मोक्ष) को प्राप्त करता है और इस संसार में पुनः उत्पन्न नहीं होता है ।

संस्कृत व्याख्या—यः—पूर्वोक्तः, विप्रः—द्विजः, अविप्लुतः—अखण्डितः, एवं—इत्थं, ब्रह्मचर्यं—नैष्ठिकब्रह्मचर्यव्रतं, चरति—पालयति, सः—वटुः, उत्तमस्थानं—उत्तमं च यत् स्थानं, ब्रह्मलोकं मोक्षदं वा, गच्छति—प्राप्नोति, इह—अस्मिन्, च, पुनः—मृत्योरनन्तरं, न, जानते—उत्पद्यते, पुनरागमनं न भवतीति ।

विशेष—स्मृति में कहा गया है कि वे सब प्रलय वेला में ब्रह्म के साथ विचरण करते हैं तथा परब्रह्म के साक्षात्कार से परम पद में प्रविष्ट होते हैं ।

'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥'